प्रभुको आत्मसमर्पण

हनुमानप्रसाद पोद्दार

।। श्रीहरिः ।।

प्रभुको आत्मसमर्पण
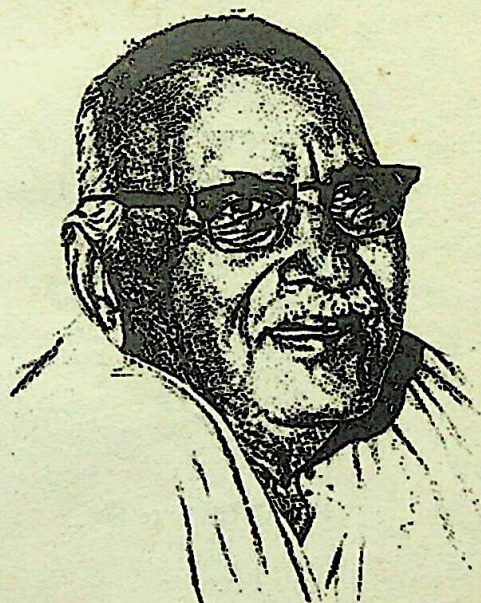
हनुमानप्रसाद पोद्दार

PRABHU KO ATMSAMARPAN

BY

HANUMAN PRASAD PODDAR

प्रकाशक
गीतावाटिका प्रकाशन
पो०– गीतावाटिका (गोरखपुर)
पिन–२७३००६
दूरभाष : (०५५१) ३१२४४२
E-Mail:- rasendu@vsnl.com

प्रथम संस्करण–२०५८ वि०

मूल्य — तीस रुपये मात्र

नम्र निवेदन

जीवनमें शाश्वत शान्ति एवं अखण्ड आनन्द प्राप्त करनेके लिये रस–सिद्ध–संत भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार प्रवर्तक सम्पादक—'कल्याण' ने जो सामग्री प्रदान की है, उसीका एक और लघु–संग्रह आपके हाथोंमें देते हुए प्रसन्नताको अनुभव हो रहा है। वे जिस उच्च आध्यात्मिक भागवती स्थितिमें स्थित थे, उसीका परिणाम था कि उनकी लेखनी एवं मुखसे निःसृत प्रत्येक शब्द मानव मात्रका मंगल करनेमें समर्थ है।

प्रस्तुत संग्रहकी अधिकांश सामग्री उनके प्रवचनोंके माध्यमसे ही उपलब्ध हुई है। इससे पूर्व उनके प्रवचनों पर आधारित सामग्रीके दो संग्रह "व्रजभावकी उपासना" एवं "वेणुगीत" के नामसे आपके हाथोंमें पहुँच गये हैं। इनको जिस उत्साह एवं प्रेमसे सराहना करके आपने अपनाया उसीसे प्रोत्साहित होकर यह तीसरा संग्रह प्रस्तुत किया जा रहा है। श्रद्धेय श्रीभाईजीका प्रथम लेख "मातृभूमिकी पूजा" के नामसे जनवरी सन् १९११ ई०के 'मर्यादा' मासिक पत्रमें प्रकाशित हुआ था—वह आज भी उतना ही प्रेरणादायक है। अतः इस संग्रहमें सम्मिलित कर लिया गया है।

श्रद्धेय श्रीभाईजीका सम्पूर्ण साहित्य गीताप्रेससे ही प्रकाशित हुआ एवं हो रहा है क्योंकि इस संस्थाको श्रद्धेय श्रीसेठजी एवं भाईजीने अपना जीवन दान देकर विश्व–विश्रुत बनाया। गीताप्रेस कुछ समयसे व्यस्तताके कारण श्रद्धेय श्रीभाईजीकी नयी पुस्तकें प्रकाशित नहीं कर पा रहा है। बिखरी हुई सामग्री एकत्रित हो जाय इसी दृष्टिसे यह पुस्तक अन्यत्र प्रकाशित हो रही है। एकत्रित सामग्री गीताप्रेस जब भी चाहे अविलम्ब प्रकाशित कर सकेंगे।

मेरा विश्वास है जो भाई–बहिन इन बातोंको मननपूर्वक पढ़ेंगे एवं जीवनमें उतारनेका प्रयत्न करेंगे—उन्हें निश्चय ही शान्ति एवं आनन्द मिलेगा।

प्रकाशक

।। श्रीहरिः ।।

विषय सूची

पद

।। श्रीहरिः ।।

प्रभुको आत्मसमर्पण

साधकके लिये सबसे ऊँचा, सहजमें ही सिद्धि देनेवाला साधन प्रभुके प्रति आत्मसमर्पण है। भगवच्चरणोंमें अपने–आपको सौंप देना ही सारे शास्त्रोंका गुप्त रहस्य और समस्त साधनोंमें अन्तिम साधन है। सब प्रकारसे ज्ञान–विज्ञान, भक्ति–कर्म आदिका उपदेश कर चुकनेके बाद अन्तमें भगवान्‌ने यही गुप्त रहस्य अपने प्रिय सखा भक्त अर्जुनको बतलाया था। इसी परम साधनसे मनुष्य अपने जीवनको उच्च–से–उच्च स्थितिपर पहुँचा सकता है।

इस आत्मसमर्पणका अर्थ केवल जीवनके कर्मोंको त्याग हाथ–पैर सिकोड़कर बैठ जाना नहीं है। कुछ लोग भूलसे यही मान लेते हैं कि 'करने करानेवाले भगवान् हैं, उन्हींकी शक्ति सबके अंदर काम करती है, हमारा काम केवल चुप होकर बैठे रहना है।' परंतु यह बड़ा भारी भ्रम है, इससे आत्मसमर्पण सिद्ध नहीं होता। आत्मसमर्पणमें सबसे पहले आत्माका अर्पण होता है, आत्माके साथ ही अहंकार, मन, बुद्धि, शरीर सभी उसके अर्पण हो जाते हैं, ऐसा होनेपर साधकको यह स्पष्ट उपलब्धि होने लगती है कि इस शरीर, मन, वाणीसे जो कुछ होता है, सो वास्तवमें भगवान् ही करा रहे हैं। इससे पहले वह समझता था कि 'मैं कर रहा हूँ' अब समझता है कि 'भगवान् करा रहे हैं।' अपने कर्त्तापनका सारा अहंकार भगवान्‌के अहंकारमें मिल जाता है, क्योंकि मन, बुद्धि उन्हींके अर्पित हो चुके हैं। मन, बुद्धिका

सारा स्वातन्त्र्य यहाँ पर लुप्त हो जाता है। अब भगवान्‌का संकल्प ही उसका संकल्प, भगवान्‌का विचार ही उसका विचार और भगवान्‌की क्रिया ही उसकी क्रिया है। यदि भगवान् संकल्परहित, विचाररहित और क्रियारहित हैं, तो वह भी वैसा ही है; क्योंकि संकल्प, विचार और क्रिया होनेमें जिस अन्तःकरणकी आवश्यकता है, वह मन–बुद्धिरूप अन्तःकरण भगवान्‌की वस्तु बन गया है, उसपर उसका कोई अधिकार नहीं रह गया। इसलिये ऐसे साधकका सब जिम्मा भगवान् ले लेते हैं। वे कहते हैं—'जिसने मन–बुद्धि मुझे अर्पण कर दिये हैं, वह निःसन्देह मुझको प्राप्त होता है—'मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्।' परंतु इसमें कार्य त्यागकर निश्चेष्ट हो रहनेका उपदेश नहीं है। इसी मन्त्रमें भगवान् कहते हैं कि 'निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर'—'सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।' इस बातको स्मरण रखता हुआ युद्ध कर कि यह सब भगवान्‌की लीला है, सब कुछ वही कराते हैं, मैं तो उनके हाथकी पुतलीमात्र हूँ। वह यन्त्री हैं, मैं यन्त्र हूँ। जिधर घुमाते हैं, उधर ही प्रसन्नतासे घूम जाता हूँ, कभी जरा–सी भी आनाकानी नहीं करता। इसीसे अर्जुनने धर्माधर्मके सारे विचारोंका त्याग करके स्पष्ट शब्दोंमें कह दिया था कि 'मेरा संदेह जाता रहा, अब तुम जो कुछ कहोगे मैं वही करूँगा'—'गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव।' (गीता १८। ७३)

ऐसा साधक कर्म–त्याग या संसार–त्यागकी इच्छा–अनिच्छा नहीं करता। भगवान्‌के खेलका खिलौना बने रहनेमें ही वह अपना सौभाग्य समझता है, क्योंकि इस समय उसकी दृष्टिमें संसारका स्वरूप पहलेका–सा जड़ नहीं रह जाता है, वह सर्वदा सर्वत्र देखता है केवल चैतन्यको और चैतन्यकी विचित्र लीलाको ! वह समस्त जगत्‌को हरिका स्वरूप और समस्त कर्म–राशिको हरिका खेल देखता है, इसीसे वह इस खेलमें सदा सम्मिलित रहकर हरिरूप जगत्‌की सेवा किया करता है। परंतु इसमें उसका यह भाव कदापि नहीं रहता कि 'मैं जगत्‌की सेवा करता हूँ, या अपने कर्तव्यका पालन करता हूँ, क्योंकि उसका तो अब कोई कर्तव्य रह ही नहीं जाता, पुतली कर्तव्यका ज्ञान नहीं रखती, वह तो स्वाभाविक ही मालिकके इशारेपर नाचती है। उसे इस कर्तव्य–ज्ञानकी आवश्यकता नहीं रहती; क्योंकि उसकी बागडोर किसी दूसरे सयानेके हाथमें है। ऐसी अवस्थामें संसारके भोगोंकी तो बात ही कौन–सी है, वे तो अत्यन्त तुच्छ, नगण्य हैं, उसकी ओर झाँकना तो उस साधकसे बन ही नहीं सकता; क्योंकि

वे तो उसकी दृष्टिमें भगवान्‌की लीलाके अतिरिक्त कोई खास चीज ही नहीं रह जाते। ऊँचे-से-ऊँचे लोक भी उन्हींके लीला क्षेत्र हैं, उन लोकोंके लिये भी उसका मन नहीं चलता, वह अपनेको सदाके लिये प्रभुकी लीलाका एक खिलौना मानता है। सर्वत्र, अबाधित, मनोहर नित्य लीलामें भगवान् उसको अपने हाथमें लिये कहीं भी क्यों न रहें, उस खिलाड़ीके हाथोंसे और उसकी नजरसे तो वह हटता नहीं, फिर खेलकी जगहके एक भागसे दूसरे भागमें जानेकी इच्छा-अनिच्छा वह क्यों करने लगा? हाँ, यदि प्रभु कभी उसे खेलसे अलग होनेको कहते हैं, अपनी नजरसे ओझल करना चाहते है, तो इस बातको वह स्वीकार नहीं करता। इसीसे भागवतमें भगवान्‌ने कहा है कि 'मेरे भक्त मेरी सेवा छोड़कर मुक्तिको भी स्वीकार नहीं करते'—

'दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः।'

ऐसा भक्त जगत्‌के सभी कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता। उसका सेवाकार्य, उसकी व्यापार-प्रवृत्ति, उसकी रण-शूरता और उसका ज्ञान-वितरण सभी कुछ परमात्माकी लीलाके अंग होते हैं। वह इस लीला-अभिनयका एक आज्ञाकारी चतुर पात्र होकर रहता है। उसकी क्रिया और कर्मवासना अहंकारप्रेरित न होकर प्रभुप्रेरित हुआ करती है। ऐसा दिव्य लीला-कर्मी भक्त शुभाशुभ फलरूप कर्म-बन्धनसे सदा ही मुक्त रहता है। भगवान्‌की प्राप्ति तो उसको नित्य ही रहती है; क्योंकि उसकी जीवन-डोर ही भगवान्‌के हाथमें रहती है। मुक्ति अवश्य ही दासत्वके लिये उसके चरणोंकी ओर ताका करती है, कभी-कभी हठसे चरणोंमें भी चिपट जाती है। एक रसीले भक्त कविने बहुत ही सुन्दर कहा है—

घनः कामोऽस्माकं तव तु भजनेऽन्यत्र
न रुचिस्तवैवांघ्रिद्वन्द्वे नतिषु रतिरस्माकमतुला।
सकामे निष्कामा सपदि तु सकामा पद्‌गता
सकामास्मान्मुक्तिर्भजति महिमायं तव हरे॥

'हे हरि! हमारी भजनमें ही गाढ़ रुचि है। अन्य किसी भी पदार्थमें नहीं है। तुम्हारे ही चरणयुगलोंमें पड़े रहनेमें हमारा अतुल प्रेम है। हे भगवन्! तुम्हारी कुछ ऐसी अपार महिमा है कि वह बेचारी मुक्ति जब सकाम-विषयकामी लोगोंको नापसंद कर डालती है, तब उसी क्षण अपनेको निराश्रय समझकर बड़ी उत्सुकतासे हम भक्तोंके चरणोंमे चिपटकर हमारी चरण सेवा करने लगती है।'

चरण-सेविका बननेपर भी ऐसे भक्त उस मुक्तिके चंगुल में

फँसना नहीं चाहते। इस तरहके ऊँचे साधकोंकी सारी जिम्मेवारी स्वभावतः ही भगवान्‌के ऊपर रहती है। भगवान्‌ने अर्जुनके सामने प्रतिज्ञा करके कहा है—'मैं तुझे मुक्त कर दूँगा, तुझे कोई चिन्ता नहीं'—'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।' हम बड़े ही मन्दबुद्धि हैं, अविश्वासी और अश्रद्धालु हैं; विविध प्रलोभनोंमें पड़कर व्यर्थ मनोरथ होते रहनेसे हमारा मन संदेहसे भर गया है, जागतिक भोग–सुखोंकी तुच्छ स्पृहा और धर्म–कर्मादिके साधनोंसे इन सुखोंके प्राप्त करनेका उपाय बतलानेवाली पुष्पिता वाणीने हमें मोहित कर रखा है, इसीसे हम भगवान्‌की इस प्रेमपूरित महान् प्रतिज्ञावाणीपर परम विश्वास कर अनन्यभावसे उनकी शरण नहीं लेते। इसीसे बारंबार एक कष्टसे दूसरे कष्टमें पड़ते हुए संकटमय अशान्त जीवन बिता रहे हैं– पथ–भ्रष्ट पथिककी भाँति श्रान्त–क्लान्त होकर किंकर्त्तव्यविमूढ हो रहे हैं। वास्तवमें यह हमारी बड़ी ही दयनीय दशा है। इस स्थितिसे छुटकारा पानेके लिये हमें अपनी दृढ़ संकल्प–शक्तिके द्वारा भगवान्‌को आत्मसमर्पण करनेका अभ्यास करना चाहिये। अपने प्रत्येक कर्मके मूलमें भगवत्प्रेरणा समझने, प्रत्येक सुख–दुःखको भगवान्‌का दयापूर्ण विधान समझकर उसीमें संतुष्ट रहने तथा निरन्तर उसका स्मरण करते हुए प्रत्येक कर्म बिना किसी भी इच्छा–अभिलाषाके यन्त्रवत् करते रहनेका अभ्यास करना चाहिये।

परंतु केवल मुखसे, 'मैं तुम्हारे शरण हूँ', 'मैं तो तुम्हें आत्मसमर्पण कर चुका' आदि शब्द कह देनेमात्रसे कुछ भी नहीं होता।

अपना माना हुआ सर्वस्व उसके अर्पण कर देना होगा। अहंकार, मन, बुद्धि, शरीरका प्रत्येक संकल्प, प्रत्येक चिन्तन, प्रत्येक विचार, प्रत्येक कामना और प्रत्येक कर्म सब कुछ उसके अर्पण कर देने होंगे। भोगोंकी ओर दौड़ते हुए मन और इन्द्रियोंको लौटाकर उनकी गति सर्वथा भगवान्‌की गतिकी ओर कर देनी पड़ेगी। इसमें कोई संदेह नहीं कि एक बार भगवान्‌की शरण ग्रहण करनेपर मनुष्य समस्त भयसे छूट जाता है। आदिकवि महर्षि वाल्मीकिकी कवितामें भगवान् श्रीरामके ये वचन सर्वथा सत्य हैं कि—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम।।

(वा० रा० ६। १८। ३३)

'जो कोई प्राणी एक बार भी मेरे शरणमें होकर यों कहता है कि 'मैं तुम्हारा हूँ', उसे मैं अभय कर देता हूँ, यह मेरा व्रत है।'

भगवान्‌के इस व्रतमें कोई संदेह नहीं है, एक बार भगवान्‌के प्रति आत्मसमर्पण हो जानेपर जीव सदाके लिये अवश्य ही निर्भय हो जाता है। वास्तवमें आत्मसमर्पण होता भी एक ही बार है। समर्पणका अर्थ दान है, दान और ग्रहण एक ही कालमें एक बार ही हुआ करता है, जहाँ एक बार हो चुका, वहाँ सदाके लिये ही हो गया। परंतु हम एक बार आत्मसमर्पण करते ही कहाँ हैं ? आत्मसमर्पण या शरणका नाम जानते हैं, अर्थ नहीं जानते। हमारा ज्ञान, ध्यान, भजन या तो लोगदिखाऊ होता है या भोगोंको पानेके लिये होता है। हमारे मनकी सारी वृत्तियाँ नदियोंके समुद्रमें जाकर पड़नेकी भाँति सदा संसार—सागरमें जाकर पड़ती रहती हैं, ऐसी अवस्थामें हम निर्भय कैसे हो सकते हैं, अन्तर्यामी भगवान् भला बनावटी बातोंमें क्यों फँसने लगे ? सच पूछिये तो हम भाँति—भाँतिके भयोंमें फँसे हुए हैं। पुत्रके मरनेका भय है, धन जानेका भय है, कीर्तिनाशका भय है, झूठी इज्जतका भय है, शरीर—नाशका भय है, घर—समाजके नाराज होनेका भय है। एक भय हो तो बताया जाय ! हमने तो अपने चारों ओर भयका दल बटोर रखा है, इसीसे हमें आज तमाखू—सरीखी तुच्छ चीज छोड़नेमें भी स्वास्थ्य—नाशका भय रहता है, सर्वथा हानिकर रूढ़ि तोड़नेमें भी लोकलाज और समाजका भय लगता है, सच्ची बात कहनेमें भी राजका भय रहता है। इन्हीं सब भयोंके कारण हम नाना प्रकारके पापोंमें रत रहते हैं, यही आसुरी भाव है। जबतक इन आसुरी भावोंमे फँसे रहकर हम पाप बटोरते हैं, तबतक भगवान्‌के शरण कैसे हो सकते है ? भगवान्‌ने तो स्वयं कहा है कि—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः।।
(गीता ७। १५)

'मायाने जिसका ज्ञान हरण कर लिया है, ऐसे पापी, आसुरी स्वभावके नराधम मनुष्य मुझ भगवान्‌की शरणमें नहीं हो सकते।'

इन सब भयके दलोंका दलनकर, सबको पैरोंसे कुचलते हुए दृढ़ अविराम गतिसे आगे बढ़ना होगा, तब हम निर्भय शरणपदके अधिकारी होगें।

एक दृष्टान्त

कुछ लोग विदेशसे दुःखी होकर अपने घर जाना चाहते थे। उनका घर हिमालयकी तराईमें उत्तरकी ओर था, परंतु उन्होंने इस बातको भूलकर दक्षिणकी ओर जाना आरम्भ कर दिया। घर जानेकी लगन बहुत जोर की थी, इसलिये वे उसी उलटे मार्गपर खूब दौड़ने लगे। उन्हींके दो-चार साथी जिनको सच्चे मार्गका ज्ञान था, उत्तरकी ओर जा रहे थे, रास्तेमें उनकी परस्पर भेंट हो गयी। यथार्थ मार्गपर सीधे घरकी ओर जानेवाले लोगोंने उलटे जाते हुए लोगोंसे पूछा—'भाई ! तुम सब कहाँ जा रहे हो ?' उनमेंसे कुछने कहा—हम अपने घर जा रहे हैं।' उन्हींके देशके और एक ही गाँवके ये लोग भी थे। उन्होंने कहा—'भाई! घरके रास्ते तो हमलोग जा रहे हैं, तुम सब उलटे दौड़ते हुए घरसे और भी दूर बढ़े चले जा रहे हो, बहुत दूर निकल जाओगे तो फिर लौटनेमें बड़ी तकलीफ होगी, इस मार्गमें कहीं तुम लोगोंको विश्राम करनेके लिये जगह नहीं मिलेगी। वृक्षकी शीतल छाया या शान्तिप्रद ठंडा जल तो इस ओर है ही नहीं ! बड़े जोरकी लू चल रही है, सारा शरीर झुलस जायेगा, थककर हैरान हो जाओगे, प्यासके मारे प्राण छटपटानेपर भी कहीं सरोवरके दर्शन नहीं होंगे। इसलिये इस दुःखदायी विपरीत पथको छोड़कर हमारे साथ सीधे रास्ते चलो।' विपरीत-मार्गियोंमें बहुतोंने तो इस बातको सुनना ही नहीं चाहा; उनकी समझसे तो इन बातोंके सुननेमें समय लगाना सुखपूर्वक घर पहुँचनेमें देर करने-जैसा प्रतीत हुआ। कुछने बातें तो सुनीं, परंतु विचार करनेपर उनको इन बातोंमें कुछ सार नहीं दिखलायी दिया, वे भी चले गये। कुछ लोग ठहरकर विचार करने लगे, उन्होंने सीधे रास्तेकी ओर घूमकर देखा, थोड़ी देर वहाँ खड़े रहे, साथ चलनेकी इच्छा भी हुई, उन्हें अपना मार्ग विपरीत भी प्रतीत हुआ, परंतु वे मोहवश पुराने साथियोंका साथ नहीं छोड़ सके, अतएव अपने मार्गमें शंकाशील होते हुए भी वे उसी उलटे मार्गपर चल पड़े। इन लोगोंमेंसे कुछ तो आगे जाकर ठहर गये और सोच-विचारकर वापस मुड़ गये एवं कुछ अपने पुराने साथियोंकी बातोंमें आकर उसी मार्गसे चल दिये। कुछ थोड़े-से ही ऐसे निकले जो इनकी बातें सुनते ही सावधान होकर एकदम मुड़ गये, मुड़ते ही—उनका सम्पूर्ण शरीर सीधे मार्गके सामने होते ही वे सुन्दर स्वच्छ प्रकाशमय पथ और सामने ही अपना घर देखकर परम सुखी हो गये। फिर पीछेकी ओर

झाँकनेकी उनकी इच्छा भी नहीं हुई। पुराने साथियोंने पुकारा, वापस लौटनेको कहा, परंतु उन्होंने उधरकी ओर मुँह बिना ही फिराये उनसे कह दिया—'भाई ! हम अब इस सुखके मार्गसे वापस नहीं लौट सकते। सीधे मार्गपर आते ही हमें अपना घर सामने दीखने लगा है। घरकी प्रीति अब तो हमें मने करनेपर भी लौटने नहीं देती।' वे नहीं लौटे और झंझटोंसे छूटकर तुरंत अपने घर पहुँचकर सदाके लिये सुखी हो गये।

इसी प्रकार इस संसारमें भी चार प्रकारके मनुष्य हैं—पामर, विषयी, मुमुक्षु और मुक्त। परम और नित्य सुखरूप परमात्माकी खोज सभी करते हैं, सभी सुखके अन्वेषणमें दौड़ते हैं, परंतु अधिकांश मनुष्य पथभ्रष्ट होकर विपरीत मार्गपर ही चलते हैं, इसीसे उन्हें सुखके बदले बारंबार दुःख–कष्टोंका शिकार बनना पड़ता है। कहीं भी शान्ति–सुखके दर्शन नहीं होते ! इनमें से जो लोग सन्मार्गपर चलनेवाले सदाचारी संत–महात्माओंकी वाणीको सुनना ही व्यर्थ समझते हैं, चौबीसों घंटे 'हाय धन, हाय पुत्र, हाय सुख, हाय भोग, हाय कीर्ति' आदि चिल्लाते हुए ही भटकते हैं, कहाँ जाते हैं—इसका उन्हें स्वयं भी कुछ पता नहीं है तथापि अन्धोंकी तरह चल ही रहे हैं, वे तो पामर मनुष्य हैं। दूसरे विषयी पुरुष हैं, जो कभी–कभी प्रसंगवश अकारण–कृपालु संत–महात्माओं द्वारा कुछ परमार्थकी बातें सुन तो लेते हैं; उनमें उन लोगोंको कोई सार नहीं दीखता, इससे वे सुनकर भी तदनुसार चलनेकी इच्छा नहीं करते। तीसरे मुमुक्षु हैं, इनमें प्रधानतः दो श्रेणियाँ हैं–मन्द और तीव्र। जो मन्द मुमुक्षु है, वे सत्संगमें परमार्थकी बातें मन लगाकर सुनते हैं, सन्मार्गपर चलकर भगवत्प्राप्तिकी इच्छा भी करते हैं, मार्गकी ओर कुछ क्षणोंके लिये मुँह फिराकर यानी संसारके बाह्य भोगोंसे मनकी गतिको क्षणभरके लिये रोककर ईश्वरकी ओर लगाना भी चाहते हैं, परंतु विषयी पुरुषोंके संगसे व्यामोहमें पड़कर अपनी पुरानी चाल नहीं छोड़ सकते और पुनः विषयोंमें ही दौड़ने लगते हैं। परंतु जो तीव्र मुमुक्षु होते हैं, वे एकदम मुड़कर अपने मनकी गतिको सर्वथा ईश्वरोन्मुखी कर देते हैं। इस तरफ एक बार दृढ़ निश्चयपूर्वक पूर्णरूपसे लग जानेपर—भगवान्‌के सम्मुख हो जानेपर मनुष्यको कुछ विलक्षण ही आनन्द मिलने लगता है, परमात्मारूप परमानन्दका नित्य–निकेतन उसे अत्यन्त समीप–अपने अंदर–बाहर सब जगह दीखने लगता है, वह फिर किसी तरह भी संसारके बाह्य रूपकी ओर मन नहीं लगा सकता, यही एक बार परमात्माके सम्मुख होना है। हम लोग

बाह्यभावको—मुखके शब्दोंको ही आत्मसमर्पण समझकर शास्त्रवचनोंपर संदेह करने लगते हैं कि 'हम तो किसी समय एक बार भगवान्‌के शरणागत हो गये थे, आत्मसमर्पण कर दिया था, परंतु अभीतक हमारा उद्धार नहीं हुआ, इससे सम्भव है कि वाल्मीकिरामायणका यह श्लोक प्रक्षिप्त हो या केवल रोचक वाक्य ही हो।' परंतु यह नहीं सोचते, एक बार पूर्ण आत्मसमर्पण कर चुकनेके बाद किसी प्रकारका भय या अपने उद्धारकी चिन्ता कैसे हो सकती है ? भगवान्‌को आत्मसमर्पण करनेवालेको किसका भय और उसका कैसा उद्धार ? यदि भय और उद्धारकी चिन्ता है तो आत्मसमर्पण ही कहाँ हुआ ? दोष भरा है हमारे अंदर, देखते हैं हम रात–दिन जगत्‌के भोग–सुख और तृप्तिकी असंख्य बाह्य वस्तुओंको, सुख ढूढ़ते हैं उनमें और संदेह करते हैं भगवान् और भक्तशिरोमणि ऋषियोंके अनुभूत वाक्योंपर ! कैसी विचार–विडम्बना है !

आत्मसमर्पणके लिये अपनेको दुष्कृतों—पापोंसे बचाकर आसुरी भावका आश्रय छोड़कर मायाके द्वारा अपहृत ज्ञानको सत्कर्म और उपासनासे पुनः अर्जन करना होगा और ज्ञानके द्वारा परमात्माके स्वरूपको समझकर निश्चल एक निश्चयसे अपना जीवन उन्हें अर्पण कर देना होगा। यही भगवान्‌के एक बार सम्मुख होना है। भगवान्‌के सम्मुख होते ही तत्काल सारे पापपुञ्ज भस्म हो जाते हैं और वह मनुष्य उसी शाश्वतीरूप परम पदको प्राप्त होता है, जहाँसे पुनः कभी स्खलन नहीं होता। पापोंके छोड़नेका यह मतलब नहीं कि सारे पापोंका फल भोगनेके बाद हम भगवान्‌की शरण लेगें। इसका अर्थ यही है कि अबसे पापोंको छोड़कर, अपना अवशेष जीवन भगवान्‌को एक निश्चय से अर्पण कर देना चाहिये। फिर तो भगवान् स्वयं सँभाल लेते हैं। भगवान्‌ने स्वयं कहा है–

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।।
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।।

(गीता ९। ३०–३१)

'अत्यन्त दुराचारी भी यदि अनन्यभावसे मुझे भजता है तो उसे साधु मानना चाहिये; क्योंकि उसने आगेके लिये केवल मुझे ही भजने का निश्चय कर लिया है। उसे केवल साधु मानना ही नहीं चाहिये, वह

वास्तवमें बहुत शीघ्र धर्मात्मा हो जाता है और उस नित्य परम शान्तिको प्राप्त होता है। मैं यह सत्य विश्वास दिलाता हूँ कि मेरे भक्तका कभी नाश नहीं होता।

भगवान्‌के इन बड़े भरोसेके वचनोंपर विश्वास करके नित्य अपने अत्यन्त समीप रहनेवाले, अपने अंदर ही बसनेवाले उस परमात्माको ज्ञानके द्वारा जानकर उसकी शरण ग्रहण करनी चाहिये। अश्रद्धा, आलस्य, उद्योगहीनता, भय, संशय, जड़ता, अविश्वास आदि दोषोंको सब तरहसे तिलाञ्जलि देकर बड़े उत्साहसे भगवान्‌की विश्वलीलामें खिलौना बननेकी भावना करते हुए अग्रसर होना चाहिये।

भगवान्‌के दिव्य मन्दिरका द्वार सबके लिये सदा–सर्वदा खुला है। जो उन्हें चाहेगा उसे ही वह मिलेंगे। जो उनसे प्रेम करेगा, उसीसे वे प्रेम करेंगे। अवश्य ही ज्ञान बिना उनके त्रिगुणातीत स्वरूपका पता नहीं लगता और उनके उस सत्त्वगुणसे भी ऊँचे–अति विलक्षण अनिर्वचनीय स्वरूपका पता लगे बिना यथार्थ आत्मसमर्पण भी नहीं हो सकता; परंतु केवल शुष्क ज्ञानसे भी वहाँतक पहुँचनेमें बड़ी–बड़ी बाधाएँ हैं, ज्ञानके साथ प्रेमामृतकी रस–धारा अवश्य ही बहती रहनी चाहिये। प्रेमके बिना–पराभक्तिके बिना केवल ब्रह्मभूत होनेसे ही भगवान्‌के यथार्थ स्वरूपका तत्त्वतः ज्ञान नहीं होता।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।।
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मा तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।।
(गीता १८। ५४–५५)

'ब्रह्मभूत होनेपर प्रसन्नचितवाला पुरुष न किसी वस्तुके लिये शोक करता है, न किसीकी इच्छा करता है, तब सब भूतोंमें समभावसे स्थित वह पुरुष मेरी (परमात्मा की) 'पराभक्ति' को प्राप्त करता है। उस पराभक्तिके द्वारा मुझ (परमात्मा)–को तत्त्वसे भलीभाँति जानता है। इस प्रकार मैं जो और जिस प्रभाववाला हूँ, उस मुझको भक्ति द्वारा तत्त्वसे जानकर वह तुरंत ही मुझमें प्रवेश कर जाता है।'

अतएव प्रेमसे भगवान्‌का स्मरण करते हुए उन्हें आत्मसमर्पण

करनेकी भावनाको प्रबल इच्छा–शक्तिके द्वारा दिनोंदिन बढ़ाना चाहिये। आत्मसमर्पणकी इच्छा ज्यों–ज्यों बलवती होगी, त्यों–ही–त्यों परमात्माके द्वारका दरवाजा आप–से–आप खुलता रहेगा और अन्तमें हृदयस्थित श्रीविष्णुचरणसे भव–भय–नाशिनी अलौकिक सुधा–धारा उत्पन्न होकर ज्ञान, वैराग्य और प्रेमरूप त्रिविध धारामें परिणत हो समस्त मन–प्राणको भगवद्रूपके प्रवाहमें बहा देगी। फिर जगत्का रूप तुरंत ही बदल जायेगा। फिर हमें दीख पड़ेगा—सर्वस्व हरिका, दीख पड़ेंगी–सर्वत्र हरिकी नित्यलीला और उस लीलामें भी केवल हरि ही—'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।' (गीता ७। ७)

यही मुक्तिका स्वरूप है, यही साधनका पर्यवसान है, यही परमगति है, इसीको जानने–समझनेवाले आत्माराम भक्त बड़े दुर्लभ हैं।—'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।।' (गीता ७। १९)

—o—
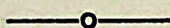
आत्मसमर्पण

केवल तुम्हें पुकारूँ प्रियतम ! देखूँ एक तुम्हारी ओर।
अर्पण कर निजको चरणोंमें बैठूँ हो निश्चिन्त, विभोर।।
प्रभो ! एक बस, तुम ही मेरे हो सर्वस्व सर्वसुखसार।
प्राणोंके तुम प्राण, आत्माके आत्मा आधेयाऽधार।।
भला–बुरा, सुख–दुःख, शुभाशुभ मैं, न जानता कुछ भी नाथ।
जानो तुम्हीं, करो तुम सब ही, रहो निरन्तर मेरे साथ।।
भुलूँ नहीं कभी तुमको मैं, स्मृति ही हो बस, जीवनसार।
आयें नहीं चित्त–मन–मतिमें कभी दूसरे भाव–विचार।।
एकमात्र तुम बसे रहो नित सारे हृदय–देशको छेक।
एक प्रार्थना इह–परमें तुम बने रहो नित संगी एक।।

(पद–रत्नाकर, पद सं० ६८)

भगवान्‌के सामने दीनता

साधकोंके लिये एक बहुत उत्तम उपाय है परमेश्वर के सामने आर्त्त होकर दीनभावसे हृदय खोलकर रोना, यह साधन एकान्तमें करनेका है। सबके सामने करनेसे लोगोंमें उद्वेग होने और साधनके दम्भरूपमें परिणत हो जानेकी सम्भावना है। प्रातःकाल, संध्या–समय, रातको, मध्यरात्रिके बाद या उषाकालमें जब सर्वथा एकान्त मिले, तभी आसनपर बैठकर मनमें यह भावना करनी चाहिये कि 'भगवान् यहाँ मेरे सामने उपस्थित हैं, मेरी प्रत्येक बातको सुन रहे हैं और मुझे देख भी रहे है।' यह बात सिद्धान्तसे भी सर्वथा सत्य है कि भगवान् हर समय हर जगह हमारे सभी कामोंको देखते और हमारी प्रत्येक बात सुनते हैं। भावना बहुत दृढ़ होनेपर, भगवान्‌के जिस स्वरूपका इष्ट हो, वह स्वरूप साकार रूपमें दीखने लगता है एवं प्रेमकी वृद्धि होनेपर तो भगवत्कृपासे भगवान्‌के साक्षात् दर्शन भी हो सकते हैं। अस्तु।

नियत समय और यथासाध्य नियत स्थानमें प्रतिदिन नित्यकी भाँति आसन या जमीनपर बैठकर भगवान्‌को अपने सामने उपस्थित समझकर दिनभरके पापोंका स्मरण कर उनके सामने अपना सारा दोष रखना चाहिये और महान् पश्चात्ताप करते हुए आर्तभावसे क्षमा तथा फिर पाप न बनें, इसके लिये बलकी भिक्षा माँगनी चाहिये। हो सके तो भक्तश्रेष्ठ सूरदासजीका यह पद गाना चाहिये या इस भावसे अपनी भाषामें सच्चे हृदयसे विनय करना चाहिये––

मो सम कौन कुटिल खल कामी।
जिन तनु दियो ताहि बिसरायो ऐसो नमकहरामी।।
भरि भरि उदर विषयको धायो जैसे सूकर ग्रामी।
हरिजन छाँड़ि हरी बिमुखनकी निसिदिन करत गुलामी।।
पापी कौन बड़ो जग मोतें सब पतितनमें नामी।
सूर पतितकौ ठौर कहाँ है सुनिये श्रीपति स्वामी।।

हे दीनबन्धो ! यह पापी आपके चरणोंको छोड़कर और कहाँ जाय ? आप–सरीखे अनाथनाथके सिवाय जगत्‌में ऐसा कौन है जो मुझपर दयादृष्टि करे ! प्रभो ! मेरे पापोंका पार नहीं है, जब मैं अपने पापोंकी ओर देखता हूँ, तब तो मुझे बड़ी निराशा होती है, करोड़ों जन्मोंमें भी उद्धारका कोई साधन नहीं दीखता, परंतु जब आपके विरदकी ओर ध्यान जाता है तब तुरंत ही मनमें ढाढ़स आ जाता है। आपके वह वचन स्मरण होते हैं, जो

आपने रणभूमिमें अपने सखा और शरणागत भक्त अर्जुनसे कहे थे--

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।।
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्ति निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।।
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।

'अत्यन्त पापी भी अनन्यभावसे मुझको निरन्तर भजता है तो उसे साधु ही मानना चाहिये; क्योंकि उसने अबसे आगे केवल भजन करनेका ही भलीभाँति निश्चय कर लिया है। अतएव वह शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाता है और सनातन परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन ! तू निश्चयपूर्वक सत्य समझ कि मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता। हे भाई ! तू सब धर्मोंको छोड़कर केवल एक मुझ वासुदेव श्रीकृष्णकी शरण हो जा, मैं तुझे सारे पापोंसे छुड़ा दूँगा, तू चिन्ता न कर।'

कितने जोरके शब्द हैं, आपके सिवा इतनी उदारता और कौन दिखा सकता है ? 'ऐसो को उदार जग माहीं।' परंतु प्रभो ! अनन्यभावसे भजन करना और एक आपकी शरण होना तो मैं नहीं जानता। मैंने तो अनन्त जन्मोंमें और अबतक अपना जीवन विषयोंकी गुलामीमें ही खोया है, मुझे तो वही प्रिय लगे हैं, मैं आपके भजनकी रीति नहीं समझता। अवश्य ही विषयोंके विषम प्रहारसे अब मेरा जी घबड़ा उठा है, नाथ ! आप अपने ही विरदको देखकर मुझे अपनी शरणमें रखिये और ऐसा बल दीजिये, जिससे एक भी क्षणके लिये आपके मनमोहन रूप और पावन नामकी विस्मृति न हो। हे दीनबन्धो ! दीनोंपर दया करनेवाला दूसरा कौन है ?

दीनको दयालु दानि दूसरो न कोऊ।
जाहि दीनता कहौं हौं देखौं दीन सोऊ।।
सुर, नर, मुनि, असुर, नाग साहिब तौ घनेरे।
तौ लौं जौ लौं रावरे न नेकु नयन फेरे।।
त्रिभुवन तिहुँ काल बिदित, बेद बदति चारी।
आदि-अन्त-मध्य राम ! साहबी तिहारी।।
तोहि माँगि माँगनो न माँगनो कहायो।
सुनि सुभाव-सील-सुजसु जाचन जन आयो।।
पाहन-पसु बिटप-बिहँग अपने करि लीन्हे।

महाराज दसरथके ! रंक राय कीन्हे।।
तू गरीबको निवाज, हौं गरीब तेरो।
बारक कहिये कृपालु ! तुलसिदास मेरो।।

हे तिरस्कृत भिखारियोंके आश्रयदाता ! दूसरा कौन है जो आपके सदृश दीनोंको छातीसे लगा ले ? जिसको सारा संसार घृणाकी दृष्टिसे देखता है, घरके लोग त्याग देते हैं, कोई भी मुँहसे बोलनेवाला नहीं होता, उसके आप होते है, उसको तुरंत गोदमें लेकर मस्तक सूँघने लगते हैं, हृदयसे लगाकर अभय कर देते हैं। रावणके भयसे व्याकुल विभीषणको आपने बड़े प्रेमसे अपने चरणोंमें रख लिया, पाण्डव–महिषी द्रौपदीके लिये आपने ही वस्त्रावतार धारण किया, गजराजकी पुकारपर आप ही पैदल दौड़े। ऐसा कौन पतित है जो आपको पुकारनेपर भी आपकी दयादृष्टिसे वञ्चित रहा है ? हे अभयदाता ! मैं तो हर तरहसे आपकी शरण हूँ, आपका हूँ, मुझे अपनाइये प्रभो !

तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप–पुंज–हारी।।
नाथ तू अनाथको, अनाथ कौन मोसो।
मो समान आरत नहिं आरतिहर तोसो।।
ब्रह्म तू, हौं जीव, तू है ठाकुर, हौं चेरो।
तात–मातु, गुरु–सखा, तू सब बिधि हितु मेरो।।
तोहिं मोहिं नाते अनेक, मानिये जो भावै।
ज्यों त्यों तुलसी कृपालु ! चरन–सरन पावै।।

हे पतितपावन ! हे आर्त्रत्राणपरायण ! हे दयासिन्धो ! बुरा, भला जो कुछ हूँ, सो आपका हूँ, अब तो आपकी शरण आ पड़ा हूँ, हे दीनके धन ! हे अधमके आश्रय ! हे भिखारीके दाता ! मुझे और कुछ भी नहीं चाहिये। ज्ञान–योग, तप–जप, धन–मान, विद्या–बुद्धि, पुत्र–परिवार और स्वर्ग–पाताल किसी भी वस्तुकी या पदकी इच्छा नहीं है। आपका बैकुण्ठ, आपका परम धाम और आपका मोक्षपद मुझे नहीं चाहिये। एक बातकी इच्छा है, वह यह कि आप मुझे अपने गुलामोंमें गिन लीजिये, एक बार कह दीजिये कि 'तू मेरा है।' प्रभो ! गोसाईंजीके शब्दोंमें मैं भी आपसे इसी अभिमानकी भीख माँगता हूँ—

अस अभिमान जाइ नहिं भोरे।
मैं सेवक रघुपति पति मोरे।।

बस, इसी अभिमानमें डूबा हुआ जगत्में निर्भय विचरा करुँ और जहाँ जाऊँ, वहीं अपने प्रभु का कोमल करकमल सदा मस्तकपर देखूँ !

हे स्वामी ! अनन्य अवलम्बन ! हे मेरे जीवन–आधार।
तेरी दया अहैतुकपर निर्भर कर आन पड़ा हूँ द्वार।।
जाऊँ कहाँ जगत्में तेरे सिवा न शरणद है कोई।
भटका, परख चुका सबको, कुछ मिला न अपनी पत खोई।।
रखना दूर रहा, कोईने मुझसे नजर नहीं जोड़ी।
भला किया, यथार्थ समझाया, सब मिथ्या प्रतीति तोड़ी।।
हुआ निरास उदास, गया विश्वास जगत्के भोगोंका।
प्रगट हो गया भेद सभी रमणीय विषय–सुख–रोगोंका।
अब तो नहीं दीखता मुझको तेरे सिवा सहारा और।
जल–जहाजका कौआ जैसे पाता नहीं दूसरी ठौर।।
करुणाकर ! करुणा कर सत्वर, अब तो दे मन्दिर पट खोल।
बाँकी झाँकी नाथ ! दिखाकर तनिक सुना दे मीठे बोल।।
गूँज उठे प्रत्येक रोममें परम मधुर वह दिव्य–स्वर !
हृत्तन्त्री बज उठे साथ ही मिला उसीमें अपना सुर।।
तन पुलकित हो, सुमन–जलजकी खिल जायें सारी कलियाँ।
चरण मृदुल बन मधुप उसीमें करते रहें रंगरलियाँ।।
हो जाऊँ उन्मत्त, भूल जाऊँ तन–मनकी सुधि सारी।
देखूँ फिर कण–कणमें तेरी छबि नव नीरद घन प्यारी।।
हे स्वामिन् ! तेरा सेवक बन, तेरे बल होऊँ बलवान।
पाप–ताप छिप जायें, हो भय भीत ,मुझे तेरा जन जान।।

इस भावकी प्रार्थना प्रतिदिन करनेसे बड़ा भारी बल मिलता हैं। जब साधकके मनमें दृढ़ निश्चय हो जाता है कि मैं भगवान्का दास हूँ, भगवान् मेरे स्वामी हैं, तब वह निर्भय हो जाता है। फिर मोह–मायाकी और पाप–तापोंकी कोई शक्ति नहीं जो उसके सामने आ सकें। पुलिसका एक साधारण सिपाही भी राज्यके सेवकके नाते राज्यके बलपर निर्भय विचरता है और चाहे जितने बड़े आदमीको धमका देता है, तब जिसने अखिल–लोकस्वामी 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकुर्तु समर्थः' भगवान्को अपने स्वामीरूपमें पा लिया है, उसके बलका क्या पार है ? ऐसा भक्त स्वयं निर्भय हो जाता है और जगत्के भयभीत जीवोंको भी निर्भय बना देता है।

———o———

साधक निरन्तर अपनेको देखे

साधकको निरन्तर आत्म-निरीक्षण करना है, अपने-आपको देखना है। कौन क्या कर रहा है, कहाँ जा रहा है, इसे देखना साधकका काम नहीं है। यह आचार्यका काम है, उपदेशकका काम है अथवा व्यवसायीका काम है या जो संत-महात्मा जगत्पर अमृत-वर्षा करते हैं, उनका काम है। वे लोग जगत्के दुःखोंसे दुःखी होकर, कहाँ-कहाँ दुःखके क्या-क्या कारण हैं, उन्हें जानकर मिटानेका उपाय बताया करते हैं। पर साधकको तो अपने-आपको निरन्तर देखना है, वह कहाँ है, कहाँ जा रहा है, उसके मार्गका लक्ष्य क्या है ? कहीं वह गिर तो नहीं रहा है ? रुक तो नहीं रहा है ? विपरीत दिशामें तो नहीं जा रहा है। यह उसके देखनेका काम है। परंतु यदि हम बाहरसे पुण्यात्माका वेष तथा नाम रखकर बाहरसे पुण्यदेशमें भी रहते हैं और अन्तरको भगवान्के साथ जोड़ना नहीं चाहते, तो यह मानना चाहिये कि हम ठीक रास्तेपर नहीं हैं, हम साधक नहीं हैं।

साधकके देखनेकी पहली बात यह है कि हमारा मन विषयोंकी ओर जा रहा है या भगवान्की ओर। यहींसे साधककी परीक्षा आरम्भ होती है। जिसका मन विषयोंसे हट-हटकर बार-बार भगवान्की ओर जाय, समझना चाहिये कि वह उन्नतिकी ओर जा रहा है। विषयोंमें जानेका न मालूम कितने जन्मोंका अभ्यास है। पर उसकी नियत बुरी नहीं है, वह बार-बार भगवान्की ओर लगता है तो ठीक रास्तेपर है। वह जा रहा है। वह मार्गकी ओर मुड़ गया है। वास्तवमें सबसे पहले साधकको जीवनकी गतिको मोड़ना है। विषयाभिमुख जीवनको मोड़कर भगवान्के सामने करना है। चाहे हम त्याग भी करें, पर त्यागमें यदि कीर्तिकी इच्छा हो गयी तो वह त्याग भोग है। यदि भोगकी ओर हमारे जीवनकी सम्मुखता है तो हम ठीक रास्तेपर नहीं हैं। पर यदि जीवन भगवान्के सम्मुख हो गया तो चाहे देर लगे तो भी वह मार्गपर है। देर लगेगी नहीं, भगवान्का विरद है। 'जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं', क्षिप्रं भवति धर्मात्मा'। पर चाहे देर लगे तो भी वह मार्गपर है, वह विपरीत मार्गपर नहीं है, वह ठीक रास्तेपर चल रहा है। भोगोंमें विरक्ति बढ़नी प्रारम्भ हो जाय और भगवान्में तथा भगवद्विषयमें अनुरक्ति बढ़नी आरम्भ हो जाय, यह सीधी कसौटी है। साधक अपने-आप अपने मनमें देख लें कि यदि हमारी चित्तकी वृत्ति विषयोंकी ओर अधिक बढ़

रही है तो समझना चाहिये कि हम विषय–जगत्‌में ही रह रहे हैं, चाहे हमारे रहनेके स्थानका नाम मन्दिर है, सत्संगभवन या गीता–भवन कुछ भी है। वास्तवमें तो हमारे अंदरका भवन हमें देखना है।

तेरे भावें जो करो भलो बुरो संसार।
नारायण तू बैठ के अपनो भवन बुहार।।

इसी भवनमें झाड़ू लगाओ। इसे साफ करो। इसकी मलिनताको दूर करो। इसके कूड़े–करकटको बाहर फेंको। इस अंदरके कूड़ेको लेकर कहीं झाड़ने जाओगे तो कूड़ा बिखेरोगे। तुम्हारे पास जो होगा वही तो दोगे। राग–द्वेष–युक्त पुरुष यदि कहीं उपदेशके क्षेत्रमें जा पहँचे तो राग–द्वेष ही देगा। वह शिव–विष्णुकी लड़ाई करा देगा। साधक अपने मनको इस कसौटीपर कसता रहे कि भगवान्‌की ओर अनुराग बढ़ रहा है या नहीं। यदि भोगोंकी ओरसे मुख नहीं मोड़ेंगे और चलना प्रारम्भ करेंगे तो उलटे ही जायँगे। बद्रीनारायण जानेके लिये लक्ष्मणझूलेकी ओर मुख नहीं किया और ऋषिकेशकी ओर मुख कर लिया तथा चलना शुरु कर दिया। जहाँ तुम जानेकी बात कहते हो उस ओर तो तुम्हारा मुख ही नहीं है, तुम जाओगे कैसे ? इसलिये अपने जीवनको भगवान्‌के सम्मुख कर लेना, यह साधकका पहला काम है। एक दृष्टान्त है कि एक बार मणिकर्णिका–घाटपर काशीके कुछ लोगोंने एक नाव भाड़े पर ली। गर्मीका मौसम था, रातका समय था, काशीमें जरा भाँग छाना करते हैं। मल्लाहोंने तथा यात्रियोंने जरा भाँग पी रखी थी। अपना ढोलक लेकर रातको गाते–बजाते हुए बैठ गये, चाँदनी रातमें प्रयाग जायँगे यह तय किया और नाव चल पड़ी। पूरी रात बीत गयी, सबेरा हुआ, नशा उतरा तो देखा कि यह तो मणिकर्णिका–घाट ही है, कहीं आगे नहीं बढ़े।' मल्लाहोंसे पूछा कि 'क्या तुम सो गये थे ? खेया नहीं ? नाव तो वहीं खड़ी है। ' तब तक मल्लाहोंका भी नशा उतर चुका था। उन्होंने उत्तर दिया कि 'खेते–खेते तो हमारे हाथ दुखने लगे। रातभर डाँड़ चलाया है। ' देखनेपर पता चला कि रस्सा ही नहीं खोला था। डाँड़ चलाते रहे, पर किनारेपर नाव बँधी रही। डाँड़ खेनेमें हाथोंमें दर्दके अतिरिक्त कुछ नहीं मिला। नाव एक कदम भी आगे नहीं बढ़ी। इसी प्रकार भगवान्‌के सम्मुख न होकर हम जो साधन करते हैं वह साधन नहीं होता, डाँड़ ही खेना रहता है। साधकको सबसे पहले अपने जीवनकी दिशा बदलनी है। अपनेको भगवान्‌के सम्मुख करना है। इसका अर्थ पहले

लक्ष्यको ठीक करना है। हमें यहाँसे बम्बई जाना है, यह पहले तय करें। स्टेशनपर जाकर पता लगायें कि कौन–सा रास्ता ठीक है, किसमें भाड़ा कम लगता है, कौन शीघ्र पहुँचता है, किसमें सुविधा है, हमारे उपयुक्त कौन–सा मार्ग है, हम उसमें जा सकते हैं कि नहीं ? अपना अधिकार, अपनी रुचि सब देखकर हमें तय करना है। चाहे योगमार्ग हो अथवा भक्तिमार्ग हो या ज्ञानमार्ग, किसीसे जाँय। रास्ते अनेक हैं, पर पानेकी वस्तु एक है। परंतु जबतक जाना कहाँ है यह ही तय नहीं, बुकिंग क्लर्कके सामने जाकर खड़े होकर टिकट माँगे, वह कहाँका टिकट दे। हमें सबसे पहले तय करना है कि भगवान्‌के मार्गमें जाना है, हमें भगवान्‌को पाना है, यह तय करके अपने जीवनको उधर मोड़ लें। हमलोग कहते हैं कि हमें लगे ३० या ५० वर्ष हो गये, पर सच्ची बात यह है कि रस्सी तो वहीं बँधी है। भगवान्‌का नाम लेंगे, मन दुकानमें ही है। अपने–आपको पहले जीवनके उद्देश्यमें स्थिर करना है।

आरम्भमें दो बात देखनी होगी कि कहीं हम प्रमाद न कर बैठें और कहीं उलटे रास्ते न पड़ जाँय। रास्तेकी किसी चीजको देखकर उसमें फँस जाना प्रमाद है। करने योग्य कार्य न करना, न करने योग्यको करना, इसे शास्त्रमें प्रमाद कहते है। प्रमाद न करें। कहीं वह रास्ता न छोड़ दें। दूसरी बात है कि कहीं बुरे संगमें आकर लौट न चलें। यद्यपि भगवान्‌की ओर आगे बढ़नेवाला लौटता नहीं, यह बात ठीक है। जो भगवदाश्रयी होता है वह नहीं लौटता। परंतु जो अपने साधनके भरोसे है, वह लौट जाता है। वेदान्तके आचार्योंने भी अकृतोपासक तथा कृतोपासकका भेद बतलाया है। जो भगवान्‌की उपासना करते हुए चलते हैं, उनके विघ्नोंका नाश होता है और जो उपासनारहित चलते है, उनका कोई सहायक नहीं रहता। शास्त्रोंने ऐसा माना है कि यदि गुरु या परमात्माका आश्रय लेकर उनकी उपासना करते हुए चले, तो मार्ग निर्विघ्न कटेगा। जो भगवान्‌की उपासनाको साथ लिये हुए चलते हैं, वे साधनसे प्रायः नहीं गिरते और जो केवल अपने बलपर चलते हैं, उनमें एक अभिमान उत्पन्न हो जाता है। भगवान्‌ने रामचरितमानसमें कहा है—

> जे ग्यान मान बिमत्त तव भव हरनि भक्ति न आदरी।
> ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी।।

यह ज्ञानाभिमानियोंके लिये कहा है। ज्ञान हुआ नहीं और ज्ञानका

अभिमान हो गया। अच्छे कर्मोंके कारण देवदुर्लभ पद मिल गया, अधिकार मिल गया, पर वहाँसे फिर गिरना पड़ेगा। दूसरी ओर कहा है—

बिस्वास करि सब आस परिहरि दास तव जे होइ रहे।
जपि नाम तव बिनु श्रम तरहिं भव नाथ सो समरामहे।।

वेद–स्तुति है—'हे नाथ ! जो लोग विश्वास करके अन्य समस्त आशाओंका परित्याग कर तुम्हारे दास हो जाते हैं, वे केवल तुम्हारे नाम लेकर ही अनायास भवसागरसे तर जाते हैं।' साधनसे भी गिरना हो जाता है, यदि भगवान्‌का आश्रय न हो। साधकोंके लिये बहुत–सी बातें हैं। साधकको अपने–आपको देखना है। बाहरको नहीं देखना है। अपने भीतरको देखना है। दोष यदि हमारे अंदर बढ़ रहे हैं, घट नहीं रहे हैं तो समझना चाहिये कि हम ठीक मार्गपर नहीं हैं। दोष घट रहे हैं, दैवी सम्पत्तिके गुण बढ़ रहे हैं, भोगोंसे विरक्ति बढ़ रही है और भगवान्‌में अनुरक्ति बढ़ रही है, भोगोंकी स्मृति कम हो रही है, भगवान्‌की स्मृति बढ़ रही है, भोगोंकी स्मृतिमें आनन्द कम आ रहा है, भगवान्‌की स्मृतिमें आनन्द बढ़ रहा है, भोग अशान्ति देनेवाले प्रतीत होने लगे हैं या अशान्तिकर मालूम होते हैं, भगवान्‌की ओर जानेमें शान्तिकी अनुभूति होने लगी है, तो समझना चाहिये कि हम ठीक हैं। साधक निरन्तर अपने अन्तरको देखता रहे। जहाँ भूल हुई, वहाँ अपनी भूलको सहन न करे। नारदजीके सूत्रोंमें आया है कि विषय पहले मनमें लहरकी भाँति आते हैं। यदि इन्हें आश्रय दे दिया तो समुद्र बन जाते हैं। डूब जाना पड़ता है—'समुद्रायन्ति'। जरा–सा भी स्खलन हो जाय, जरा–सी भी बुराई अपने जीवनमें आने लगी, तो उसे सहे नहीं। वह बड़ी बुरी मालूम हो, इस प्रकारका पश्चात्ताप मनमें उत्पन्न हो और भगवान्‌के सामने रोये, तो भगवान् बल देंगे, शक्ति देंगे, अपनी कृपासे उस कमजोरीको दूर कर देंगे।

'मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि'

भगवान्‌ने कहा 'मुझपर निर्भर हो जाओ तो मेरी कृपासे तुम सारी कठिनाइयोंको लाँघ जाओगे।' अतः भगवान्‌की अमोघ कृपाके बलपर भरोसा करके निरन्तर बुराईसे बचता रहे, बुराईसे दबे नहीं। जो मनुष्य पापसे दबता है, उसे ही पाप दबाते हैं। भगवान्‌के सामने तो दीन रहे, वहाँ अभिमान कर न बैठे। भोगोंके सामने तलवार लिये डटा रहे, तुलसीदासजी महाराज जब भगवान्‌के सामने जाते हैं तो कहते हैं—'कीजै मोको

जमजातनामई।' मैं आपको भूल गया। मुझे आप ऐसा बनाइये कि निरन्तर नरकमें यमकी यातना ही मिलती रहे। मैं इसी लायक हूँ। यह उनका कितना विनम्र भाव है; पर जब संसार सामने आता है तो कहते हैं–'मै तोहि अब जान्यो संसार। बाँधि न सकहिं मोहि हरिके बल, प्रगट कपट–आगार।' चला जा यहाँसे, कपटका घर ! मुझे बाँधने आया है ? नहीं बाँध सकेगा। सावधान ! वहाँ जा जिनके हृदयमें भगवान् न बसते हों, यहाँ आया तो सपरिवार मारा जायेगा। भोग समीप आनेपर भगवान्‌के बलपर ललकारते हैं। साधक भगवान्‌के सामने विनम्र रहे, भोगोंके पास आनेमें उन्हें फटकार दे। वास्तवमें ये भोग बड़े मीठे जहर हैं। भगवान्‌ने कहा—'ये जितने भी विषय–रस हैं, भोगोंके सुख हैं, आरम्भमें बड़े मीठे मालूम होते हैं—'अमृतोपमम्।' परंतु जब इनका परिणाम सामने आता है तो जहरीले–जहरके समान मार देनेवाला होता है—'परिणामे विषमिव।' भोगरूपी मीठे जहरसे बुद्धिमानको बचना चाहिये, भोगोंसे सावधान रहना चाहिये। साधक कहीं भोग–जगत्‌का आश्रय ले न ले। ये दो बातें अपने जीवनमें देखते रहने की हैं कि 'जीवन भगवत्परायण है या भोग–परायण।' यही साधक और विषयीका भेद है। विषयीका जीवन भोगपरायण है और साधक भक्तका जीवन भगवत्परायण। साधकके प्रत्येक कर्मकी प्रेरणा साध्यकी ओरसे होती है, और प्रत्येक कर्मका फल साध्यकी प्राप्ति चाहता है तथा विषयीके प्रत्येक कर्मका प्रेरक भोग होता है, और प्रत्येक कर्मका फल चाहता है, भोगकी प्राप्ति। विषयी विषयोंसे आसक्त होकर राग–द्वेषके वशमें यहाँ दुःख भोगता है और नरकमें जाता है। 'नरकेऽनियतं वासो भवति...।' और भगवत्परायण साधक जीवनको शान्तिपूर्ण बिताता हुआ भगवान्‌के पदको प्राप्त होता है, यह उनके परिणामका अन्तर है। अतः हमलोग साधक बनें।

साधक बननेका अर्थ यह नहीं है कि साधकपनका अभिमान कर लें कि हम साधक हैं और सारे बाधक हैं। यह भी बड़ा भारी रुकावट होती है। साधकको जहाँ अभिमान आया, वहाँ दूसरेमें तुच्छबुद्धि हो जाती है। दूसरेमें यह भाव रक्खे कि सब भगवान् हैं। भंगी भी भगवान् है, जब भंगी झाड़ू लिये सामने आवे तो भगवान्‌का रूप समझकर प्रणाम कर ले। मन–ही–मन कहे—'आप तो इस समय इस वेषमें हैं, मैं दूसरे वेषमें हूँ। इस समय आप दूसरी लीला करेंगे तो उस लीलाके होते समय भी मैं भूलूँ नहीं कि आप मेरे सरकार हैं, मेरे नाथ हैं।' साधक किसीको नीचा न

समझे। साधकके लिये विद्या, धन, वर्ण, वर्ग, जाति, साधन, भक्ति एवं ज्ञानका अभिमान बाधक है, ये साधनाके विघ्न हैं। इन अभिमानोंसे दूर रहें। अपने–अपने स्वाँगका बरतना ही वर्णाश्रमका पालन है। अपने स्वाँगसे हटे नहीं, दूसरेको नीचा माने नहीं, सबमें भगवान् देखे, कुत्तेमें तथा नरकके कीटमें भी भगवान् हैं। अतः किसीसे घृणा न करे। किसीको नीचा न माने। दूसरेके पापकी ओर न देखे। अपने दोषको देखे। अपनी भूलें देखे, और अपने–आपको ठीक करनेमें निरन्तर रात–दिन लगा रहे। यह नहीं होना चाहिये कि घड़ी, आधा घड़ी बैठे, फिर छोड़ दे।

प्रायः यही होता है कि सत्संग भी करते हैं, पाठ भी करने बैठते हैं। पूरा कर लेते हैं, पुनः उसी विषय–सेवनमें लग जाते हैं। जितना विषय–सेवन होगा, उतने उसीके संस्कार बनते रहेंगे। भगवान्‌के संस्कार नहीं आयेंगे। भगवान्‌को तो रात–दिन पकड़े रहना चाहिये, सदा भगवान्‌की ही पूजा करें। प्रातःकाल सोकर उठनेपर भगवान्‌से इस प्रकार प्रार्थना करे—'भगवन् ! आज प्रातःसे सायंतक तथा सायंसे फिर प्रातःतक जो कुछ मैं करूँ, केवल आपकी पूजा करूँ।' यह साधकका जीवन है। साधक रात–दिन अपनेको सावधानीके साथ भगवान्‌के प्रति जोड़े रखे, यही धर्म है। उलटे मार्गपर आ जाये तो फिर सावधान होकर दृढ़तासे ठीक रास्तेपर आवे। भगवान्‌की कृपा–भिक्षा चाहे। फिर चल पड़े, चलता जाय, तो पहुँच जायेगा। मनचाहे भोग नहीं मिलेंगे क्योंकि वे कर्मके फल हैं। भगवान् मनचाहे आपको मिलेंगे, क्योंकि वे हैं, और आपके स्वरूप हैं। भगवान् हैं, आपके अधिकारकी चीज हैं, निरन्तर आपके साथ रहते हैं। आपको छोड़ नहीं सकते। भगवान्‌का मिलना निश्चित है और सहज है, भोगका मिलना अनिश्चित और बड़ा कठिन है। अतः साधक भोगोंकी ओर न देखकर निरन्तर भगवान्‌की ओर विश्वासपूर्वक देखे कि भगवान् (मिलेंगे) मिले हुए हैं, इस प्रकार रात–दिन भगवान्‌का चिन्तन करे। यह साधनाका स्वरूप है।

——o——

अर्पण

अर्पण कर दो रामको बचे हुए सब श्वास।
स्मरण करो प्रभुका सदा, मनमें भर उल्लास।।
मौत मरेगी सदाको, फिर न आयगी पास।
राम–धाममें पहुँच तुम बन जाओगे दास।।

(पद–रत्नाकर, पद–सं० १२६८)

साधनाके तीन प्रधान अंग

भगवान्‌के नाम–रूप–गुणों तथा लीलाओंका स्मरण करना भजनका प्रधान साधन है। यदि ये तीनों बातें साथ हों तो भजन पूर्णांग होगा। ये तीन बातें हैं——भाव, गुण, और साधन। अभी जो पद आपलोगोंने सुना है, उसमें भजनकी उसी दिव्य भावनाका संकेत है——

चहौं न सुगति सुमति संपत्ति कछु, रिधि सिधि बिपुल बड़ाई।
हेतुरहित अनुराग रामपद, बढ़ै अनुदिन अधिकाई।।

इसमें यह आकांक्षा नहीं है कि अच्छी मति हो, सुन्दर गति हो, मान–सम्मान मिले। इनकी तो जरूरत ही नहीं है। हमें भगवान्‌से माँगना तो केवल यही है कि भगवान् श्रीरामके चरणोंमें दिनानुदिन अधिकाधिक भक्ति बढ़ती रहे। मनुष्य–जीवनकी सफलता उसकी कल्पनाके परेकी सुमति, सुगति और सुसंगति इसीमें है। वस्तुतः परममति, परमगति और परमसम्पत्ति तो वह है जिसमें अन्य सभी प्रकारकी मति, गति और सम्पत्तिकी आवश्यकता ही न रह जाय। परम वस्तु भी वही है जो कभी नष्ट न हो। नष्ट होनेवाली स्थिति चाहे कितनी भी ऊँची क्यों न हो, अन्तमें दुःखदायी ही है। कभी नष्ट न होनेवाली और सदा साथ देनेवाली बस एक ही वस्तु है और वह है——श्रीहरिचरणोंमें प्रेम।

जिस व्यवहारमें अपने सुखकी चाह है, वहाँ 'काम' है। काम चाहता है अपना सुख, प्रेम चाहता है प्रेमास्पदका सुख। यही काम और प्रेममें वास्तविक अन्तर है। प्रेममें एकमात्र यही लालसा होती है कि हमारा प्रेमास्पद सुखी हो और उसे सुखी देखकर हमें आनन्द मिलता रहे। 'प्रेम अब पूर्णताको प्राप्त हो गया'——ऐसी बुद्धि एक सच्चे प्रेमीकी नहीं होती। प्रेममें अल्पबुद्धि है ही नहीं। प्रेम तो प्रतिक्षण बढ़नेवाला है——'प्रतिक्षणवर्धमानं प्रेमस्वरूपम्।' प्रेम कहीं रूकता नहीं। वहाँ तो ऊँची–से–ऊँची स्थिति भी नीची मालूम होती है। प्रेमके आनन्दकी थाह नहीं है। इस प्रेमको प्राप्त करनेके लिये अन्य समस्त मति, गति और सम्पत्तिकी ओरसे आँखें फेरनी पड़ती हैं। यह बात सांसारिक प्रेममें लागू नहीं होती। भगवत्प्रेम ही ऐसा विलक्षण होता है जहाँ त्याग और लगनके सिवा और किसी भावके लिये स्थान नहीं है। वहाँ 'निजसुख' या अपने स्वार्थका भान ही नहीं रहता। प्रेमास्पदके सुख–सम्पादनकी सतत इच्छा और उसके दिव्य प्रेममें आकृष्ट

डूबे रहनेकी ही मात्र लालसा रहती है। भगवान् कहते है कि मेरे प्रेमी भक्त किसी भी वस्तुको नहीं चाहते, उनके मनमें मेरे प्रेमके सिवा अन्य किसी भी वस्तुकी आकांक्षा होती ही नहीं—

सालोक्यसार्ष्टिसारूप्यसामीप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति बिना मत्सेवनं जनाः।।

(श्रीमद्भागवत ३। २९। १३)

ऐसे निष्काम भक्त दिये जानेपर भी सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य आदि गतियोंको नहीं चाहते। इन गतियोंसे प्रेमकी गति ऊँची है, उसके प्रति खिंचाव हो जानेसे सहज ही इनसे मन हट जाता है। इस प्रकार श्रीभगवच्चरणारविन्दमें अनन्य प्रेमसे बढ़कर कोई ऊँचा भाव नहीं है, मनुष्यको बस इसी भगवत्–प्रेमकी अभिलाषा करनी चाहिये। यह तो हुई भावकी बात। परंतु भावके साथ गुण भी चाहिये। बिना गुणोंके भाव टिकते नहीं। भगवान्‌की प्राप्तिमें सहायक जो भी गुण हैं उन सभी दैवी सम्पत्तिके गुणोंको अपनेमें धारण करना चाहिये। दैवी सम्पत्तिके गुण, गुणोंसे मुक्तकर देते हैं और हम **'निस्त्रैगुण्य'** स्थितिको प्राप्त हो जाते हैं—**'दैवी सम्पद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता'**—दैवी–सम्पदा मुक्तिका और आसुरी–सम्पदा बन्धनका कारण है; परंतु सावधानी यह रहनी चाहिये कि इन सद्‌गुणोंका ही आश्रय न लिये रहे। प्रभुका परम आश्रय तो एक क्षणके लिये भी न छूटे, हम निर्भर तो एकमात्र भगवान्‌पर ही रहें और सद्‌गुणोंको बढ़ाते जायँ। सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, दया, क्षमा आदिके द्वारा यदि हम मान, बड़ाई, यश आदि चाहें तो हमारा यह भाव नीचा ही है। इन गुणोंको ही ईश्वर–भक्ति मान लेना भ्रम है। भाव नीचा होनेके कारण मान, धन, यश आदि की इच्छाएँ प्रबल होंगी। साधनामें भाव होता है प्रधान और साधन होता है गौण। इस कारण धीरे–धीरे जब यह देखेंगे कि इन गुणोंके धारण करनेपर भी मान, बड़ाई, यश, कीर्ति नहीं मिल रही है तो बस इन गुणोंको व्यर्थ समझकर छोड़ देंगे। होना तो वास्तवमें यह चाहिये कि भगवान्‌के प्रेमको प्राप्त करनेके लिये इन गुणोंको अर्जित किया जाय। अपनेको बड़ा गुणवाला और दूसरेको कम गुणवाला मानकर चलनेवाला व्यक्ति भारी भ्रममें है और इस प्रकार अपनेमें जिन गुणोंका उसने अधिरोप कर रखा है, वास्तवमें वे गुण उसमें हैं ही नहीं। अतएव ऊँचे भावके साथ ऊँचे गुण और ऊँचे गुणोंके साथ ऊँची क्रियाएँ भी होनी चाहिये। भगवान्‌का भजन करतें हैं, परंतु इस

दूषित भावसे कि अमुक लाभ हो जाय, हमारे अमुकका अनिष्ट हो जाये, हमें धन और यश प्राप्त हो जाय तो ऐसा भजन निम्न श्रेणीका ही समझा जाना चाहिये। भजन करते हैं और साथ ही अन्याय और अत्याचार भी करते है तो यह भजन नहीं चाहे और कुछ भले ही हो। इसमें नीच भाव होनेसे ही भजन–साधन सम्पन्न होता है। इनमें पारस्परिक सम्बन्ध है। इन तीनोंमें कोई एक लिया जाय तो वह उत्तम है, पर साधक तबतक सफल नहीं हो सकता, जबतक तीनों साथ न हों। तीनोंके मिलनेपर जो चीज तैयार होती है, वह बहुत ही उत्तम और कल्याणदायी होती है।

अवगुणोंके रहते साधन करना चलनीसे पानी भरना है। चलनी गीली हो जायेगी पर उससे पानी नहीं भरा जा सकेगा। थोड़ी–सी तुच्छ बातोंके लिये हम साधनको बेच देते हैं। जहाँ ऊँचा भाव नहीं है, वहाँ बहुत छोटी कामनाओंमें हमारा मन लिप्त होकर हमारे भजनको बेच देता है। जहाँ नामके लिये भजन होता है, वहाँ बड़ा पाप है। हम भजन तो करें भगवान्‌का और माँगें हम उनसे स्वसुख–कामनाएँ, यह नहीं होना चाहिये। यह पाप है, हमारा अज्ञान है। भगवान् तो हमारे परम सहायक, परम करुणाकर और उदार हैं। वात्सल्यसे पूर्ण है उनका हृदय। अबोध शिशु माँसे यदि चाकू माँग बैठता है तो माँ उसे उस वस्तुको दे देती है, वह उसकी सँभाल भी रखती है। यदि बुद्धिके अभिमानको छोड़कर हम बच्चे बन जायँ तो भगवान् हमारी सँभाल रखेंगे ही। भगवान् तो सद्‌वैद्य हैं, दवा परोक्ष नहीं। जिसमें हमारा हित होता है, वही भगवान् करते हैं। भगवान् हमारे सच्चे हितको जानते हैं और इसीलिये हमारे मनकी न करके हमारे हितकी करते हैं। नारद–मोहकी कथा सब जानते हैं। नारदजीको अभिमान हो गया था कि काम और क्रोधको मैंने जीत लिया है। प्रभुने दया करके उनकी आँखें खोलनेके लिये ही माया रची। उन्हें अपना सारा रूप दे दिया पर मुँह दिया बन्दरका। फलस्वरूप नारदजीको मायारूपी स्वयंवरकी कन्यापर कामासक्ति और भगवान् नारायणपर क्रोध हुआ। इस कथाका अभिप्राय यही है कि जहाँ भगवान्‌का आश्रय नहीं है और केवल गुणोंका आश्रय है, वहाँ मुँहकी खानी पड़ती है। चाहिये यह कि हम भगवान्‌का तो लें आश्रय और साधनद्वारा अपने सद्गुणोंको बढ़ाते जायँ, भाव खूब ऊँचे रखें और आचरण भी उसके अनुकूल ही हो। सच्चे भक्त तो यहाँतक कह देते हैं कि प्रभो ! आप हमें तभी दर्शन दें जब हम दर्शन पानेके योग्य बन जायँ, नहीं

तो आपका दर्शन भी कलंकित होता है। पर बात यह होती है कि कहीं तो भजन नहीं होता; कहीं केवल सद्‌गुणोंकी प्राप्तिको ही सफलता मान ली जाती है और कहीं भाव निम्न श्रेणीका होता है। अतः इस प्रकारके भजन–साधनसे सफलता नहीं मिलती और सफलता न मिलनेसे भजन स्वतः ही छूट जाता है।

हम मानव तीन गुणोंके समष्टीकरण हैं—सत्, रज और तम। सत् अर्थात्—सद्‌गुण ही मनुष्यकी उन्नतिका मूल है। गुण, भाव और आचरण एक–दूसरेके परस्पर आश्रित हैं। सत्त्वगुणकी वृद्धि होनेसे मनमें प्रकाश और आनन्दकी प्राप्ति होती है। रजोगुण प्रवृतिमें ढ़केलता है और तमोगुण प्रमाद, आलस्य और निद्रासे ढ़क देता है। प्रकृति तो स्वभावतः अधोगामिनी ही है। भोगोंकी अनुचित लालसा अधिकाधिक बढ़ती है। जहाँ लोभ बढ़ा, वहाँ प्रवृत्ति बढ़ी। जहाँ अत्यन्त लोभ है वहीं अशान्ति है, क्योंकि बुद्धि बहुमुखी हो जाती है। फिर तो अमित इच्छाओंकी बाढ़ आ जाती है। जहाँ स्वाभाविक इच्छा हुई कि साँस लें, सुख–भोगकर लें; बस, यहीं यथेच्छाका श्रीगणेश हो गया। इसलिये सावधानीपूर्वक सदा जागरूक रहकर सद्गुणोंकी ओर निरन्तर प्रवृत्त रहना चाहिये। यह प्रयत्न बराबर चालू रहे। अपना भाव सदा ऊँचे–से–ऊँचे रखे, प्राप्त सद्गुणोंमें ही संतोष न कर ले और दूसरेकी दृष्टि न रखते हुए साधनको उत्तरोत्तर बढ़ाता रहे। यह भी ध्यान देनेकी बात है कि दूसरेमें गुण बराबर ही देखें जिससे उस गुणके लिये अपने भीतर सदैव स्पृहा बनी रहे। दूसरेके दोष न देखें; 'अन्यथा स्वभाव पड़ जानेपर सभीमें दोष–ही–दोष दीखेंगे और संस्कारवश वे दोष हमारे भीतर भी आ जायेंगे। दूसरोंके दोष देखने–सुननेमें भी मनुष्यको एक प्रकारका रस मिलता है; पर है वह विषतुल्य और पतनकारी।

इसलिये कहा है 'नान्यत् दोषेषु रमते'—दूसरोंके दोषोंमें आनन्द न लें—मनसे उन्हें देखना या सुनना न चाहें; अन्यथा हमारा ह्रदय तज्जनित संस्कारवश उन दोषोंसे भर जायेगा। देखना ही है तो अपनी कमजोरीको देखे। आत्मनिरीक्षणके द्वारा अपने एक–एक दुर्गुणको निकालता रहे। अपनेको पूर्ण मानना ही अपूर्णता है; पूर्णताकी स्थितिमें तो न पूर्णका बोध है न अपूर्णका। वह तो अनिर्वचनीय स्थिति है।

भगवत्सेवन, भगवदुपासना ऐसी वस्तु है कि यदि इसे हम बेचना चाहें तो वह भी बिक नहीं सकती। उसके शुभ संस्कार हमारे अन्तरमें गहरे

पैठ जाते हैं। यदि एकबार भी हमारा हृदय भगवत्सेवामें और प्रेममें संलग्न हुआ तो फिर इसका अंश रह ही जाता हैं भजन कभी सर्वथा निर्मूल नहीं हो सकता। जैसे एक नन्हीं–सी चिनगारी यदि राखके ढ़ेरमें छिपी रह जाती है और हवा बहनेसे जब राख उड़ जाती है और साधन मिल जाते हैं तो वही प्रज्वलित अग्निके रूपमें परिवर्तित हो जाती है, उसी प्रकार सच्ची साधना और उसके संस्कार भी कभी मिटते नहीं; मिट सकते नहीं; उचित अवसर तथा काल और व्यवस्था पाकर लहक उठते हैं भजन पापको भस्म कर डालता है। भजनका प्रभाव अमोघ है। इसलिये तो गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

भाँय कुभायँ अनख आलस हूँ।
नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ।

भाव और गुणके साथ भजन भी चलना चाहिये। ऐसा भजन शीघ्र फलदायी होता है। रोगसे निवृत होनेके लिये तीन बातोंकी आवश्यकता है—(१) कुपथ्यका त्याग, (२) सुपथ्यका ग्रहण और (३) औषधका सेवन। भवतापतापित मानवजीवनको ठीक करनेके लिये भजन संजीवनी बूटी है। यही सब तापोंका नाश करनेवाली अमृतलता है—'सर्वतापशमनैक भेषजम्।' इसमें जिसका जितना अधिक प्रवेश है वह उतना ही भगवत्प्रेमका दिव्य मधुर फल प्राप्त करता है। अतः सब बातोंको छोड़कर भगवद्भजन ग्रहण करना चाहिये। दिन–प्रति–दिन अपने भजन–साधनको तीव्र करना चाहिये। भजनके बढ़ते ही पापकी गठरी जलकर स्वतः भस्म हो जाती है। यह न मान बैठें कि पाप करते रहो, छोड़नेकी जरूरत नहीं। पापोंको तो भजन मिटा ही देगा; किन्तु जहाँ रात–दिन पापमें आसक्ति है, वहाँ भला भजन कैसे हो सकता है ? उस स्थितिमें भजन कदापि नहीं हो सकता। वहाँ तो पापका पोषण ही होता है। भजनके साथ पापोंकी ओर भी चित्तवृत्ति रहे, यह दोनों कैसे हो सकता है ? दोनोंमें एक ही स्थिति रह सकती है।

पापीका यह स्वभाव हो जाता है कि उसे भगवान् हरिका भजन अच्छा नहीं लगता। भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः।।

(गीता ७। १५)

मानसमें भी भगवान् श्रीरामके वचन हैं—

पापवंत कर सहज सुभाऊ।
भजन मोर तेहि भाव न काऊ।।

भजन ऐसा सुगम उपाय होनेपर भी मायाद्वारा हरे हुए ज्ञानवाले आसुरीभावको धारण किये हुए तथा मनुष्योंमें नीच और दूषित कर्म करनेवाले मूढ़ लोग मुझको नहीं भजते हैं। ऐसे लोगोंके भी संस्कार, वातावरण, उद्योग तथा अध्ययन द्वारा बुद्धि निर्मल हो जाती है और वे धर्मात्मा हो जाते हैं। पापी सदा पापी ही रहे—ऐसा विधान प्रभुका नहीं है, वहाँ तो सबके लिये सुधारका द्वार खुला है।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।।

(गीता ९। ३०)

भगवान् कहते हैं कि 'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भजन करता है तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चयकर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है।

इतना ही नहीं, वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और शाश्वत शान्तिको प्राप्त करता है—'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।' अतः अपने बीते हुए समय–भूतकालकी चिन्ता छोड़कर वर्तमानको प्राणपणसे सुधारना चाहिये। जो वर्तमानको सुधारता है उस व्यक्तिका भविष्य भी सुधरा हुआ है। जहाँ सर्वांगीण सर्वतोभावसे समर्पण हुआ, वहीं वह हरिके चरणोंमे स्वीकार हो जाता है। तब हम एकदम निर्द्वन्द्व और निश्चिन्त हो जायेंगे। जबतक प्रभुको हमारा समर्पण स्वीकार नहीं होता, तबतक निरन्तर समर्पणकी भावना करते रहना चाहिये। इस भावनाको उत्तरोत्तर दृढ़से दृढ़तर बनाते जायँ। मनमें यह धैर्य रहे कि जीवनकी गति ईश्वरोन्मुखी होगी; हमारा मन, शरीर, वातावरण–सभी कुछ भगवान्‌की ओर लग जायेंगे। हमारे खाने–पीने, ओढ़ने–पहनने आदिकी सब कियाएँ भगवत्प्रीतिके लिये ही हों। यदि विपरीत परिस्थितिमें रहना पड़े तो एक बात सदा स्मरण रखें—अपना लक्ष्य। लक्ष्यका नित्य–निरन्तर स्मरण करते रहनेसे मनुष्य विषयगामी नहीं हो सकता। लक्ष्यके भ्रष्ट होनेसे ही हमारा पतन होता है। लक्ष्यहीनकी सदा दुर्दशा होती है। अतः लक्ष्यको कभी न भूले और सदा उसके अनुकूलका ग्रहण तथा प्रतिकूलका परित्याग करे। यदि हमारा लक्ष्य ठीक रहा और हम उसपर दृढ़तासे आरूढ़ रहें तो लक्ष्यकी प्राप्ति (श्रीभगवत्प्राप्ति) निश्चित है। इस मानवजीवनका एकमात्र यही चरम और परम लक्ष्य है।

———०———

भजनकी सारभूत बातें

कल्याणकामी साधकको तीव्र भजन एवं नामजप करना चाहिये और उसमें पूरा विश्वास करना चाहिये, श्रद्धा सच्ची होनी चाहिये, इससे भजनमें तीव्रता एवं रस आयेगा। अपने इष्टमें सर्वोच्च बुद्धि एवं सर्वसमर्थता एवं सर्वलोकेश्वरका भाव होना चाहिये, साथमें मनका भाव निर्मल एवं शुद्ध होना चाहिये। यदि इस प्रकार हमारा भाव होगा तो हमको अवश्य लाभ होगा, यदि हमारी श्रद्धामें और भी ज्यादा निष्ठा होगी तो भगवान्का साक्षात् दर्शन हमें हो जायेगा। इसलिये भजनमें तीव्रता होनी चाहिये।

यह सच्ची बात है कि जो कुछ भी दृश्य वस्तु है, सब भगवान् हैं। किसी सज्जनने यह कहा कि 'राम–कृष्णका दर्शन कराओ' तो भई, यह मेरे ताकतमें है नहीं, यह ताकत तो राम–कृष्णमें ही है, उनकी ही कृपासे उनके दर्शन हो सकते हैं। अपनी उत्कट चाहसे उनको मजबूर कर दो कि उन्हें दर्शन देना ही पड़े। केवल आना ही न पड़े, उन्हें तो इतना मजबूर कर दो कि तुम उनको जिस रूपमें देखना चाहो, उसी रूपमें वे तुम्हें दर्शन दें किंतु यह मेरे हाथके–वशकी चीज नहीं कि आपको दर्शन करा सकूँ। भगवान्का प्राकट्य दुर्लभ नहीं है; किंतु दुर्लभ है उनकी अनन्य आवश्यकता महसूस करने की एवं उनकी अनन्य शरणागति ग्रहण करनेकी। यदि ऐसा हो जाय तो फिर सुगमता एवं सरलतासे उनके दर्शन हो सकेंगे। जब भगवान्के बिना मन मरने लगेगा तब वे अवश्य आयेंगे। वे हमारे मनमें प्रवेश कर जायँगे या तो वे अपना मन हमें दे देंगे अथवा हमारा मन वे ले लेंगे। वैदिक कर्मोंमें सबका अधिकार नहीं है; किंतु भगवान्की भक्तिमें सबका समानाधिकार है। भक्तिके वशमें होकर भगवान् शबरीके पास जाते हैं, किंतु अपने ज्ञानके गर्वमें फूले हुए ऋषि–मुनियोंके पास नहीं जाते। वे रैदासके पास जा सकते हैं, किंतु राजाके पास नहीं। उनको बुलानेके लिये भक्तिकी उत्कट आवश्यकता है। जब मन आर्त होकर एवं विकल होकर उनको पुकारेगा तो वे शीघ्र ही हमें दर्शन देंगे।

प्रश्न–भगवान्का भजन किस भावसे करना चाहिये ?

उत्तर–भगवान्के जिस रूपकी हम उपासना करते हैं, उस रूपमें अटल एवं पक्का विश्वास होना चाहिये। नहीं तो भगवान् हमारी ओर ताकेंगे ही नहीं, वे हमें असहायकी भाँति छोड़ देंगे, किंतु उस अटल

विश्वाससे वे हमें छोड़ेंगे ही नहीं। किसी वस्तुकी उनसे चाहना नहीं रखे, मोक्षकी भी इच्छा न रखे, इसको भी ठुकरा दे। भगवान्‌की भक्तिमें मोक्षका कोई भी मूल्य नहीं है। भक्तलोग तो भगवान्‌की भक्तिमें ही मस्त रहते हैं, उनकी कोई इच्छा उद्भूत होती नहीं। भजन ऐसा हो कि एकनिष्ठ, जहाँ मनको ले जाना चाहे, वहीं ले जाय, ऐसा मनपर अधिकार रखना चाहिये। भगवान्‌की भक्तिमें अन्तर नहीं आना चाहिये, भजनमें व्यर्थकी बातें नहीं करनी चाहिये, तैलधारावत् भगवान्‌का भजन करना चाहिये, उसके लिये भगवान् कहते हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मा स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः।।

—इस प्रकार जो नित्य–निरन्तर अनन्य–चित्तसे मेरा स्मरण करता है, उस नित्ययुक्त योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे मैं बड़ी सुगमतासे दर्शन दे देता हूँ।

भगवान्‌के भजन करनेके नियम कुछ ये हैं—

१–भगवान्‌में मन अटल एवं दृढ़तासे लगा रहे।

२–जिसका हम भजन करते हैं, उसमें पक्का विश्वास रखना चाहिये। उसे सर्वोपरि मानना चाहिये।

३–भजन विश्वासपूर्वक होना चाहिये।

४–भजनमें भजनीयका ही ध्यान हो। ध्यानके बीचमें किसी दूसरेका चिन्तन नहीं करना चाहिये।

५–जिसका ध्यान लगाये, उसका स्वरूप भी आखोंके सामने आता रहे। मनसे तो उनके स्वरूपका चिन्तन हो एवं वाणीके द्वारा उनका नित्य–निरन्तर जप चलता रहे। स्वरूप–चिन्तन एवं जप दोनों साथमें चलते रहें।

६–भगवान्‌के भजनमें, दूसरेके भजनके साथ अवज्ञाका तथा तिरस्कारका भाव कदापि नहीं रहे। यदि हम भगवान् श्रीरामका नाम लेते हैं, तो भगवान् शंकरका नाम लेनेवालेमें तुच्छ–बुद्धि न हो। अपनेको तो भगवान्‌में ही भरोसा रखना चाहिये, दूसरा चाहे कुछ भी करे। दूसरे उपासकके देवतामें, इष्टमें, पूजामें विरोध नहीं करना चाहिये। जो भी नाम–जप हो, श्रद्धापूर्वक होना चाहिये।

जो कुछ भी सुने उसे धारण करनेसे श्रद्धाकी वृद्धि होगी, श्रद्धा

आगे परिपक्वावस्थामें आकर विश्वासके रूपमें आ जायगी। इससे फिर भगवान्‌की ही स्मृति रहेगी। इससे आगे फिर भजन भावके साथमें होगा, उसमें हमारा अनन्यप्रेम हो जायेगा एवं अनन्य श्रद्धा स्वतः ही हो जायगी। जहाँ भगवान्‌में प्रेम होगा वहाँ निष्काम भाव अपने–आप ही आ जायगा। प्रेमसे हम यदि भगवान्‌का नाम–स्मरण करेंगे तो अपार शान्ति हमें मिलती रहेगी। प्रेमका यह स्वभाव ही है कि वह सुख देता है। तो उसकी स्मृतिमें जिज्ञासा जाग्रत् होनेपर स्वतः ही सुख होगा। नाम प्रियतमका है, यह बात उस स्मृतिमें अनुभूति होती रहेगी। किसीकी माँसे कहे कि तेरा बेटा ऐसा अच्छा है तो माताका ह्रदय प्रफुल्लित हो जायगा। सगाई हुई तो लड़कीमें यह स्वतः ही आरोप हो गया कि अमुक मेरा पति है। उसमें स्वतः ही प्रेम बढ़ता जायगा। कहीं उसकी बात होगी तो वह लुक–छिप करके भी सुननेकी चेष्टा करेगी। कहीं प्रियतमका फटा हुआ टुकड़ा भी मिल जाय तो उसको सुखानुभूति होगी। जबतक भजनमें रति नहीं, प्रेम नहीं, तबतक उसे सुखकी प्राप्ति कदापि नहीं होगी। यदि वह ऐसा सोचता है कि क्या करें, प्रेम करना पड़ता है तो ऐसे विचारवालेको सुख कदापि नहीं मिलेगा।

जपनीयमें यदि रुचि हो तो सुख अपने–आप ही होता है। रूप, अभ्यास, रुचिमें नियमकी आवश्यकता होती है। अभ्यासमें तो धड़ीकी आवश्यकता रहती है। मन यदि ध्यानमें नहीं लगे, तब भी जबर्दस्ती लगाना चाहिये, आगे जाकर स्वतः ही उसमें स्वाद आने लगेगा। फिर प्रेम भी बढ़ने लग जायगा। स्वाभाविक ही होता रहेगा। उससे छूटता नहीं, क्योंकि उसे तो उसमें ही स्वाद आने लग जाता है। यदि प्रेम हो तो गोपांगनाओं–जैसा होना चाहिये। ऐसा अभ्यास कर लेना चाहिये कि भगवान्‌के बिना मन लगे ही नहीं। यह चीज अभ्याससे होगी, इसलिये अभ्यास करते रहना चाहिये। यह सिद्धान्त है कि जिस काममें मन लगता है, वह काम बड़े सुन्दर ढ़ंगसे होता रहता है, इसी प्रकार मन भगवान्‌में लगा देना चाहिये, ऐसा लगाये कि फिर छुड़ानेपर भी मन भगवान्‌से छूटे नहीं। यह भाव होना चाहिये। यह भाव जब मूर्तिमान् होता है तो वह राधा बन जाता है, फिर वह महाभाव हो जाता है। यह भक्तिमार्गी जीवके लिये परम आकांक्षाका भाव है।

भजनको भीतर–ही–भीतर छोड़ना चाहिये, उसको गुप्त ही रखे, जिस प्रकार लोभी अपने धनको प्रकट नहीं रखता, उसी प्रकार हमको भजन गुप्त रखना चाहिये। प्रेमकी गहराईमें उतर करके भगवान्‌पर अपनेको

न्योछावर कर देना चाहिये, फिर उसे निर्मल प्रेम–रस मिलेगा, नहीं तो यदि प्रेमके नामपर शरीरमें ही प्रेम रह जाता है तो वह कलंकित करनेवाला प्रेम है, अन्तमें वह कलंकित ही करेगा। उससे जन्म–बन्धनसे छुटकारा नहीं होगा, बारम्बार जन्म–मरणके चक्करमें आना पड़ेगा। प्रेमी अपनेको प्रेममें ही छिपानेकी कोशिश करता है। प्रेमका वितरण नहीं होता, प्रेमी अंदर–ही–अंदर अपनेसे बातें करता रहता है। मन–ही–मनमें वह अटपटी बातें बकता रहता है। जहाँ प्रचारके लिये प्रेम होता है, वहाँ सूक्ष्मरूपसे कामना आ जाती है। जहाँ अपनेमें सुखकी अभिलाषा जागे तो मान लेना चाहिये कि कोई अंदर छिपी हुई वासना जाग पड़ी है।

प्रेम भगवान्‌का ही स्वरूप है जब यह प्रेम मनमें उद्‌भूत होता है तो सारी इन्द्रियोंमें शान्ति एवं ज्ञानकी बहुलता हो जाती है। यह प्रेम वाणीके द्वारा वर्णनमें नहीं आता, यह तो हृदयकी गोपनीयतासे–भी–गोपनीय वस्तु है। यह तो खुले हुए रूपमें अपने प्रियतमसे मिलता है, इसमें दोनों (भक्त एवं भगवान्) की आत्माएँ मिलकर एक हो जाती हैं। जहाँ प्रेम नहीं वहाँ किसी–न–किसी प्रकारसे लेना शेष है। वहाँ प्रेम ठहरता नहीं, ठहरता है तो भी मोटे रूपमें। जैसे दिन एवं रात्रि चाहें कि हम दोनों एक साथमें रहें तो नहीं रह सकते या तो दिन ही रहेगा या रात्रि ही रहेगी। दोनों किसी भी स्थितिमें एक साथ नहीं रह सकते। इसी प्रकार प्रेम और संसार एक साथमें नहीं रह सकते। राम एवं सांसारिक पदार्थ दोनों नहीं मिल सकते। जहाँ राम हैं वहाँ काम नहीं, काम तो रामसे कोसों दूर है। संसारके ध्वंसावशेषकी धूलि लगाकर प्रेमी नाचता है। जहाँ मनोरथ है, वहाँ प्रेम किसी प्रकारसे भी नहीं हो सकता। इसलिये प्रेमका स्थान ऊँचा है। एक सज्जन मुझसे कहते हैं कि आप 'ज्ञानके बाद प्रेम होता है' ऐसा कहते हैं तो क्या ज्ञान प्रेमसे छोटा है ? नहीं ! छोटा नहीं है, उसे हृदयसे ग्रहण करो। बात यह है कि ज्ञानमें भी प्रेम छूटना नहीं चाहिये। जबतक ज्ञानमें प्रेमका समावेश नहीं हो तो मानना चाहिये कि अभी वास्तविक ज्ञानकी कमी है। प्रेममें ज्ञान छूटता नहीं। कुछ ऐसे ज्ञानी हैं, जैसे–शुकदेव, नारद, व्यास——ये भी जब भगवान्‌के सौन्दर्यका दर्शन करते हैं तो ज्ञानके रहते हुए भी प्रेमका स्वाद चखने लग जाते हैं।

किसी महात्मामें कोई इच्छा होती है तो वह भगवदिच्छासे ही होती है, भगवान् कहेंगे कि संसारमें जाओ एवं पापियोंको अपने ज्ञान तथा भक्ति

द्वारा मुक्त करो, तो वह उनके कथनानुसार करेगा। प्रेमियोंके भगवान् प्रेममय होते हैं। देवी कुन्तीने कहा कि 'भगवान् बिना हेतु ही ऋषि–मुनियोंको ज्ञान देनेके लिये आते हैं।' वे सर्वत्र, सर्वदा सब जगह हैं, किंतु होते हुए भी सर्वरहित हैं। वे सच्चिदानन्द–स्वरूप है। आधारसे परे हैं। वे कब मिलते हैं, इसका हम निश्चित समय नहीं देते। श्रद्धा–प्रेमके अनुसार भगवान् मिलते हैं। उनको प्राप्त करनेके भिन्न–भिन्न मार्ग हैं। किंतु जाते हैं केवल एक परमेश्वरके पास। निष्ठा एवं विश्वास पक्का होना चाहिये।

भगवान्का भजन गुप्त रखना चाहिये। इससे भजन करनेवालेको बड़ा लाभ होता है, इसपर एक दृष्टान्त याद आ गया, वह आपको बताया जाता है। एक राजा थे, बड़े भजनानन्दी, अंदर–ही–अंदर भजनरूपी पूँजी इकट्ठी किया करते थे, किसीको पता नहीं लगा कि राजा इतना भजन करनेवाला है। सब यही सोचते कि पक्का नास्तिक है। भगवान्का एक बार भी नाम नहीं लेता, इसी प्रकारकी कल्पना लोग किया करते थे। राजा की रानी साहिबा भी बड़ी भजनवाली थीं, वह भी यही सोचतीं कि ये भगवान्का नाम नहीं लेते, वे पतिसे भजन करनेका आग्रह भी किया करती थी, किंतु वे इस बातपर ध्यान नहीं देते थे। रानी बिचारी बड़ी दुखित रहतीं कि ये भगवान्का नाम नहीं लेते। एक दिन सोते समय राजाके मुखसे स्वाभाविक ही रामका नाम निकल गया, अब तो रानी बड़ी प्रसन्न हुई, उसने अपना बड़ा भाग्य समझा, क्योंकि सोते समय उसके पतिके मुखसे राम–नाम निकल गया। रानीने आदेश दिया कि सारे नगरमें बाजे बजें एवं उत्सव मनाया जाय। रानीकी आज्ञानुसार सब हुआ, जब बाजे बजने लगे तो राजाने पूछा कि आज क्यों बाजे बज रहे हैं ? आज तो न कोई पर्व है न कोई उत्सव। रानीने कहा कि आपने अबतक भगवान्का नाम नहीं लिया, किंतु रात्रिमें आपके मुखसे रामनाम निकला। इसलिये इस खुशीमें यह सब हो रहा है। राजाने कहा कि क्या रामका नाम मेरे मुखसे निकल गया। रानीने कहा––'हाँ'। तब तो निकल ही गया, अब हमेशाके लिये निकल जायगा, राजाने अपने प्राणोंको निरुद्ध किया एवं प्राणोंका परित्याग कर दिया। कहनेका मतलब है कि अपने भजन–ध्यानको गुप्त रखना चाहिये।

जहाँ राम हैं, वहाँ प्रेम है। जहाँ राम नहीं, वहाँ प्रेम पासमें फटकेगा ही नहीं। जैसे व्यभिचारिणी स्त्री अपने जार–प्रेमको गुप्त रखती है, ऐसे ही हमको अपना भजन, ध्यान, जप गुप्त रखना चाहिये। इससे हमको शीघ्र ही

परमात्माकी प्राप्ति होगी। एक सज्जनने मुझसे यह कहा कि मैं पहले पक्का नास्तिक था, किंतु मेरी पत्नीने मुझे आस्तिक बनाया। उसने कहा कि आप रामायणके दो पन्ने तो बाँच लिया करें। मैंने बाँचना शुरू कर दिया, फिर पाठ करते-करते रामायणमें मेरी इतनी भक्ति हो गयी कि अब मुझसे बिना पाठ किये रहा नहीं जाता। हमें भी ऐसा भाव रखना चाहिये, माताओं और बहनोंको और भी चेष्टा करनी चाहिये कि वे अपने पतियों एवं कुटुम्बवालोंको आस्तिक बनायें।

——o——

अनाचारसे बचना

तन-इन्द्रियको वशमें रखना, करना नित्य सभी शुभ काम।
अनाचारसे बचना, करना संयम, नित सेवा निष्काम।।
मधुर-सत्य-हित वचन बोलना, त्याग झूठ-कटु-अहित तमाम।
जपना प्रभुका नाम निरन्तर, जिह्वासे, मनसे अभिराम।।
मनमें दया-सौम्यता रखना, रखना उसपर निज अधिकार।
राग-द्वेष-भरे कर पाये नहीं कभी वह अशुभ विचार।।
नित्य देखना प्रभुको मनमें, बाहर भी सबमें साकार।
लोक तथा परलोक सुधरनेके हैं ये उपाय अनिवार।।

(पद-रत्नाकर, पद सं० १४०१)

भगवान्में मन लगनेके उपाय

एक बार श्रद्धेय श्रीभाईजीने सत्संगके अवसरपर साधन–भजन–सम्बन्धी जिज्ञासाओंका इस प्रकार समाधान किया––

प्रश्न–हमारा मन भगवान्में कैसे लगे एवं उनकी कृपामें विश्वास कैसे हो? इसका कोई सरल उपाय हो तो बतलानेकी कृपा करें।

उत्तर–भगवान्में मन कैसे लगे, इसके दो उपाय हैं, बड़े सरल एवं अमोघ। एक है उनकी कृपामें पूर्ण और दृढ़ विश्वास तथा दूसरा है उनका सतत भजन।

भगवान्की कृपामें विश्वास कैसे हो, इसका उत्तर है विश्वासी पुरुषोंका संग करना। विश्वासी पुरुषोंका संग करनेसे भगवान्में दृढ़ विश्वास होता है। जिन्होंने विश्वाससे लाभ उठाया है, वे उसकी महत्ता जानते हैं। उनके जीवनको देखकर, उनका अनुकरण करके एवं उनके साथमें रहकर हम बहुत लाभ उठा सकते हैं। किंतु हमारा मन इसके लिये तैयार नहीं है, यह तो संसार एवं विषयभोंगोके लिये तैनात बैठा है, तब यह इनको छोड़कर भगवान्के लिये कैसे तैयार हो ? यह तैयार होता है भगवान्के सतत भजनसे। भगवान्में अटल विश्वास और भजन––इन दोनोंका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। भजनसे भगवान्में विश्वास दृढ़ होता है एवं विश्वाससे भजनमें तीव्रता आती है। इससे भजन बढ़ता है, दृढ़ होता है एवं मूल्यवान् बनता है।

विश्वासका स्वरूप क्या है ?––जो किसी अवस्थामें हिलानेपर भी नहीं हिले, पक्का एवं दृढ़ निश्चयी हो। किंतु जो विश्वास नरकोंके डरसे, किसी प्रकारके भयसे, अर्थके लाभसे अथवा किसी प्रकारके प्रलोभनसे हिल जाय वह विश्वास नहीं हैं। किसीने तुलसीदासजीसे कहा कि आपके राम तो १२ कलावाले ही थे, किंतु भगवान् कृष्ण तो १६ कलाओंसे युक्त थे। यह क्या बात है ? आपके रामजीमें कमी कैसी ? तुलसीदासजीने आश्चर्यसे कहा––भगवान् राम १२ कलाओंसे युक्त थे यह तो मुझे आज ही पता चला, वे मेरे लिये बहुत ही सर्वोच्च एवं समादरणीय हैं। तुलसीदासजीने इसपर ध्यान ही नहीं दिया, क्योंकि वे तो केवल अपने रामजीमें महत्ता ही देखते थे। कमी कभी देखते ही नहीं थे। कहनेका मतलब यह है कि उनके विश्वासमें किसी तरहसे कमी नहीं आयी। विश्वाससे निष्ठा होती है। इससे

भी भजनमें तीव्रता होती है। भजन करनेसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है। हमारेमें विश्वास नहीं होता, इसका खास कारण यही है कि हमारे अन्तःकरण में मलराशि जमी हुई है; यह मलराशि ही हमारे विश्वासको विकसित नहीं होने देती। इसीके कारण मन भगवान्‌में नहीं लगता, इस कूड़ेको जलानेके लिये भगवान्‌का भजन आग है, इस आगके प्रज्वलित होते ही मलरूपी कूड़ा क्षणभरमें ही जलकर भस्म हो जाता है। इस भजनकी आगसे 'मन' पवित्र एवं शान्त होगा और इसके शान्त होते ही भजन अपने–आप ही होने लग जायगा।

इस प्रकार भजनसे विश्वास एवं विश्वाससे भजन होता है, दोनों सहोदर भाई हैं। भजनसे निष्ठा होगी एवं निष्ठासे भगवान्‌की साक्षात् प्राप्ति हो जायगी। इससे ज्यादा प्राप्य वस्तु कोई भी नहीं है। यह सोचना कि 'इसके अनुष्ठानसे मुझे यह फल मिलेगा'—इस प्रकारके फलका अनुसंधान ठीक नहीं है, यह वृत्तिमें चञ्चलता पैदा करता है, इस कारण मन साधनमें नहीं लगता।

हमें यह दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिये कि साधनकी अन्तिम सिद्धि प्राप्त करके ही रहना है एवं इष्टके पादारविन्दोंमें दृढ़ एवं सच्चा अनुराग पैदा करना है। यह कैसे होगा, क्यों होगा, क्या होगा—ये मनकी कल्पनाएँ उत्पन्न होनी ही नहीं चाहिये, नहीं तो सिद्धि प्राप्त होनी असम्भव ही नहीं दुष्प्राप्य हैं। फलानुसंधान साधनमें दृढ़ता उत्पन्न नहीं होने देता, इसलिये साधनमें फलानुसंधानका लोप कर देना चाहिये। इस प्रकार क्रमशः पहले विश्वासको दृढ़ रखना चाहिये। फलतः निष्ठाकी जागृति होगी। निष्ठासे भजनमें तेजी एवं उत्कण्ठा पैदा होने लग जायगी। अन्तमें यह भजन हमें प्राप्य स्थान एवं लक्ष्य स्थानपर ले जायगा, अर्थात् भगवान्‌की प्राप्ति हो जायगी।

प्रश्न—किस नामका जप, ध्यान एवं पूजा आदि करें ?

उत्तर—सत्य तत्त्वको भगवान् कहो या ब्रह्म जो कुछ भी कहो आखिरकार मूलमें वस्तु एक ही है। सत्य तत्त्व भगवान् तो एक ही हैं। इस एकको पानेके लिये भिन्न–भिन्न रास्ते, भिन्न–भिन्न रुचियाँ एवं भिन्न–भिन्न भावनाएँ हैं। यह निश्चित बात है कि साधनमें प्रारब्ध, वर्ण एवं आश्रमके अनुसार भेद होना ही है। यह सिद्धान्तकी बात है कि साधनकी अनेकता हो सकती है, किंतु साध्यकी तो एकता ही रहती है। सबको आना है, तो

अपनी–अपनी दिशासे ही आना पड़ेगा। यह नहीं कि एक ही दिशासे सब आयें। जैसे किसीको स्वर्गाश्रम आना है तो कोई बम्बईसे आयेगा, कोई पंजाबसे एवं कोई कलकत्तासे आयेगा। सब एक ही मार्गसे आयें, यह सम्भव नहीं। एक भगवान्‌को मानकर अपनी निष्ठा एवं रुचिके अनुसार भगवान्‌की उपासना करनी चाहिये। उग्र स्वभाववालेको यह शिक्षा दी जाय कि तुम मधुर–मधुर मुरली बजानेवाले गोपियोंके श्यामसुन्दरकी उपासना करो तो उससे कभी भी उस मधुर मूर्तिकी उपासना नहीं होगी। उसे रणांगणमें सुसज्जित भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान कराये तो सुगमतासे उसका ध्यान लग जायगा। तो सबका स्वभाव भिन्न–भिन्न होता है, उसके अनुसार ही वह भगवान्‌की उपासना या ध्यान कर सकता है। रुचिके प्रतिकूल उससे नहीं होगा। मैंने पहले एक सज्जनको देखा था, उनका स्वभाव तेज था। उनको किसी पंडितने सरस्वतीकी पूजाके लिये कहा। उन्होंने बहुत चेष्टा की सरस्वतीका ध्यान लगानेके लिये, किंतु अन्ततक उनका ध्यान सरस्वतीमें नहीं लग सका। उनकी जाँचकी गयी कि क्या बात है, इनका ध्यान सरस्वतीमें क्यों नहीं लगता ? जाँच करनेपर उनका स्वभाव उग्र पाया गया, तब उनको भगवती छिन्नमस्ता देवीका यह ध्यान बतलाया गया कि 'देवी छिन्नमस्ताके हाथमें खप्पर है और एक हाथमें मस्तक, उसमेंसे रक्त गिर रहा है, उस रक्तको महारानी छिन्नमस्ता पान कर रही हैं। छिन्नमस्ता और सरस्वती देवी दोनों एक ही हैं, किंतु उनका उग्र स्वभाव नहीं बतलाया गया, इसीसे उनका ध्यान नहीं लगा, अब उनका ध्यान उनमें स्वतः बड़ी सरलतासे लग गया, कोई भी कठिनाई नहीं हुई।

साधन एवं स्थिति दोनों भिन्न–भिन्न हैं, चाहे विष्णुका ध्यान हो चाहे शंकरका, चाहे रामका हो या श्यामका अथवा दुर्गाका, जिसका मन जहाँ लगे, जिसमें जिसको सुविधा हो, वही रूप उसके लिये सर्वोच्च एवं सर्वश्रेष्ठ है। जिस स्वरुपमें स्वतः ही रुचि उत्पन्न हो जाय, उसी स्वरूपका ध्यान उसके लिये उचित है। हाँ, एक बात ध्यानमें रखनी चाहिये, अपने स्वरूप और अपने इष्टदेवमें अनन्यता रहे, उसमें सर्वोच्च–बुद्धि रखे। राघवेन्द्रके साधक मानें कि राघवेन्द्र ही सर्वोपरि, सर्वाधार, सर्वसमर्थ एवं सर्वशक्तिमान् भगवान् हैं। यह समझना चाहिये कि जो लोग भगवान् शंकरके उपासक हैं अथवा सूर्य, गणेश, देवी एवं धर्मके उपासक है, वे हमारे राघवेन्द्रके ही उपासक हैं, राघवेन्द्र ही उनके द्वारा पूजे जाते हैं, केवल नामोंमें भिन्नता है।

सूर्य, शंकर, गणेश एवं धर्म आदि हमारे राघवेन्द्रके ही स्वरुप हैं।

इस प्रकार फिर राघवेन्द्रमें ही अनन्यता हो जाती है। यदि हम उनको अलग–अलग स्वरूपवाले मानें, उनकी तुलना करें कि मेरे इष्टदेव उनसे श्रेष्ठ हैं, तो यह अपने इष्टदेवका अपमान करना है। ऐसी धारणा गलत एवं भ्रान्त है, इसे अपने हृदयसे निकाल देना चाहिये। इसी प्रकार यदि हम अलग–अलग मानें तो भगवान् भी एक नहीं रहे, उनकी भी भिन्न–भिन्न सत्ता हो गयी। जबतक एक मानते हैं तभीतक भगवान् हैं, अनेककी कल्पना करते ही भगवान्‌की सत्ता अपनी दृष्टिमें उठ जायगी। अतः उनका एक ही स्वरूप मानना चाहिये। उनके रूप एवं लीला सब नित्य हैं। वे तो नित्य हैं ही। जो पूर्ण है, उसके लिये शब्दावली द्वारा विवेचन नहीं किया जा सकता। वे सबसे परे हैं। बुद्धि उनको अपने तुच्छ ज्ञानद्वारा सोचती है, किंतु वे बुद्धिसे परे हैं। इसलिये वे सोचनेमें नहीं आते। किन्तु हम विचार करते हैं कि हमने उनको सोच लिया, इसी अज्ञान एवं अविद्याद्वारा वे हमें दुर्लभ हो रहे हैं। हम यदि भगवान्‌को अपनी बुद्धिमें लायें तब तो वे बुद्धिजन्य भगवान् हो गये। वे बुद्धिसे अप्रसूत हैं, गीताकी भाषामें उनको समग्र ब्रह्म कहा गया है। वे ही कृष्ण हैं, वे ही शंकर हैं। लोग उनके कितने ही नाम रूप मानतें हैं, किंतु वे एकके ही अनेक नाम–रूप हैं, मूल तत्त्व तो एक ही है, यह समझमें आनेसे ज्ञान होगा। यह मानना चाहिये कि वे एक भगवान् ही अनेक रूपोंमें पूजित होते हैं। एक बार तुलसीदासजी वृन्दावन गये, उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णके विग्रहके सामने कहा—

'कहा कहौं छबि आजु की भले बने हो नाथ'

प्रभो ! आपकी आजकी छबिके लिये मैं क्या कहूँ, कौन–सी उपमा दूँ। आज तो आपने विचित्र ही रूप धारण कर लिया है। यह उनकी अनन्यताका परिचायक है। अब देखिये आगे क्या कह रहे हैं—

तुलसी मस्तक तब नवे, जब धनुष बाण हो हाथ।।

नाथ ! आपने बड़ा बढ़िया स्वाँग रच रखा है, आपकी छबि मन–मोहिनी है, किंतु मुझे आपने ही कह रखा है कि धनुष और बाणधारीके सामने ही मस्तक नवाया करो, इसलिये मै लाचार हूँ। आप धनुष–बाण धारण कीजिये तब मैं आपको मस्तक नवाऊँगा।

अपने इष्टमें सर्वोच्च बुद्धि होना ही भगवान्‌की अनन्य उपासना है। इसमें साम्प्रदायिकता नहीं होती। उनका नाम–रूप कैसा ? जैसा रूप वैसा

ही नाम। जिसे जो अच्छा लगे, वही उसके लिये उपास्य है। सभी नाम भगवान्‌के हैं। साधकको दो बातें ध्यानमें रखनी चाहिये—अपने इष्टमें और अपने साधनमें सर्वोच्च-बुद्धि रखे। पुराण आदि जिस किसी भी शास्त्र-ग्रन्थोंमें देखिये सर्वत्र एक ही तत्त्वको लेकर उसकी स्तुति आदि की गयी है, नाम-रूप चाहे जो भी हो। जो विशेषण भगवान् विष्णुको दिये हैं, वे ही राम, श्याम एवं गणेश तथा दुर्गा आदि देवोंमें लगाये गये हैं। कोई भी रूप हो, उसको सर्वोच्च मानकर उसकी स्तुति-प्रार्थना की गयी है। 'निर्गुण नीचा है एवं सगुण साकार ऊँचा है'—यह भावना अगर मनमें आयेगी तो उस एक तत्त्वसे मन हट जायगा। अतः साधकको चाहिये कि वह एक निष्ठासे अग्रसर होता रहे तो फिर उस एक लक्ष्यपर वह स्वतः ही पहुँच जायेगा।

——o——

मन प्रभु चरणोंमें लीन रहे

प्रभो ! कृपा कर मुझे बना लो अपने नित्य-दासका दास।
सेवामें संलग्न रहूँ उल्लसित नित्य, मन हो न उदास।।
चिन्तन हो न कभी भोगोंका, नहीं विषयमें हो आसक्ति।
बढ़ती रहे सदा मेरे मन पावन प्रभु-चरणोंकी भक्ति।।
कभी न निन्दा करूँ किसीकी, कभी नहीं देखूँ पर-दोष।
बोलूँ वाणी सुधामयी नित, कभी न आये मनमें रोष।।
कभी नहीं जागे प्रभुता-मद, कभी न हो तिलभर अभिमान।
समझूँ निजको नीच तृणादपि, रहूँ विनम्र, नित्य निर्मान।।
कभी न दूँ मैं दुःख किसीको, कभी न भूल करूँ अपमान।
कभी न पर-हित-हानि करूँ मैं, करूँ सदा सुख-हितका दान।।
कभी न रोऊँ निज दुखमें मैं, सुखकी करूँ नहीं कुछ चाह।
सदा रहूँ संतुष्ट, सदा पद-रति-रत, बिचरूँ बेपरवाह।।
प्राणि-पदार्थ-परिस्थितिमें हो कभी न मेरा राग-द्वेष।
रहे न किंचित् कभी हृदयमें जग-आशा-ममताका लेश।।
मस्त रहूँ मैं हर हालतमें, करूँ सदा लीलाकी बात।
देखूँ सदा सभीमें तुमको, सदा रहे जीवन अवदात।।

(पद-रत्नाकर, पद सं० ८७)

साधकको चेतावनी

मनुष्योंमें एक ऐसी दुर्बलता होती है, जो प्रायः असावधान साधकोंको गिरानेका प्रयत्न करती है, जिससे वे अपने मनकी बात गुरुसे, आचार्यसे, पथप्रदर्शकसे करवाना चाहते हैं। श्रीमाताजीने श्रीअरविन्दको एक पत्र लिखा था, उसमें उन्होंने लिखा था कि अमुक साधक यहाँसे इसलिये चले गये कि वे चाहते थे कि अमुक साधककी भाँति ही माताजी या श्रीअरविन्द हमारे साथ भी व्यवहार करें। श्रीअरविन्द या माताजीमें किसी एकके प्रति पक्षपात हो, ऐसी बात वहाँके साधक नहीं मानते। मानना भी नहीं चाहिये और यदि हो भी तो कम–से–कम आत्मसमर्पित साधकके लिये तो यह माननेकी बात है ही नहीं। गुरु जिसके लिये जिस प्रकारका साधन उपयुक्त समझते हैं, वही बताते हैं। रोगीका काम डॉक्टर या वैद्यसे यह कहना नहीं है कि हम अमुक दवा लेंगे, आप अमुक दवा दीजिये। अमुक प्रकारका पथ्य हम लेंगे, आप हमें दीजिये, चाहे रोग कुछ भी हो। जिस प्रकारका शिष्य अधिकारी होता है, गुरु उसके लिये वही मार्ग निर्देश करते हैं और वे ठीक करते हैं; क्योंकि गुरु ही जानते हैं कि प्रत्येक साधकका स्वभाव अलग–अलग होता है।

श्रीकृष्णकी उपासना करनेवाले कोई वृन्दावनके रूपकी, कोई विराट् रूपकी, कोई सारथी–रूपकी उपासना करते हैं। उसी प्रकार भगवान् रामके भी कोई तो बालरूपके, कोई राजसिंहासन रूपके, कोई वनवासी रूपके उपासक हैं। इन सबमें अपनी–अपनी प्रकृतिका भेद होता है। देवीकी उपासनामें जिनकी सौम्य प्रकृति है, उन्हें यदि काली, तारा, भौमावती, छिन्नमस्ताकी साधना बता दी जाये तो वे डर जायँगें। नित्य रक्तपान करनेवाली छिन्नमस्ता आदिकी उपासनामें जो लोग सिद्धहस्त हैं, उग्र प्रकृतिके हैं, वे सौम्य उपासना नहीं कर सकेंगे। नृसिंह भगवान्की उपासना सब नहीं कर सकते। नृसिंह भगवान्का जो भयानक रूप है, उसकी उपासना वे ही करेंगे, जो कुछ उग्र प्रकृतिके है। सौम्य प्रकृतिके लोग अपनी प्रकृतिके अनुरूप भगवान्का रूप अथवा भगवान्का स्वभाव पायेंगे, तब उसमें उनका मन लगेगा। यद्यपि भगवान् एक हैं तथापि उपासनाओंके अनेक भेद हैं। अनुभवी गुरु, आचार्य, पथ–प्रदर्शक ही बतायेंगे कि उपासककी रुचि, दृष्टि और अधिकारके अनुसार वह किस प्रकारकी साधनाका अधिकारी है। यह साधक या शिष्य स्वयं नहीं

बता सकता। जिनकी बुद्धि अत्यन्त सूक्ष्म है, वे सांख्य, वेदान्त और न्यायको समझेंगे और जिनकी बुद्धि सूक्ष्म नहीं है, उनके सामने यदि न्याय या सांख्य रख दिया जाय तो उनकी समझमें नहीं आयेगा। उन्हें तो उनके लिये उपयोगी साधना ही बतानी चाहिये।

गुरुही उपयुक्त अधिकारी देखकर साधना बताते हैं, शक्तिपात नहीं करते हैं। शक्तिका आदान होता है। शक्तिमान् गुरु शिष्यको जो शक्ति देता है, उसे शक्तिपात कहते हैं। यद्यपि शक्तिपातके द्वारा गुरुमें देनेकी सामर्थ्य है फिर भी शिष्य ग्रहण करनेयोग्य पात्र है या नहीं, यह देखना होगा। जिस मनुष्यमें शक्तिको ग्रहण करनेकी शक्ति नहीं है, उसपर यदि शक्तिपात कर दिया जाय तो या तो शक्ति व्यर्थ हो जायगी या फिर उस व्यक्तिका नाश हो जायगा। अतः जो साधक जिस समझ या बुद्धिका है, जिसका जो अधिकार है और जो जैसी क्रिया करनेमें समर्थ है, उसके लिये उसी प्रकारका साधन बताया जाता है। जो जैसा रोगी है, उसके लिये उसी प्रकारकी दवा बतायी जाती है। चिकित्सकका उद्देश्य प्रत्येक रोगीको स्वस्थ एवं नीरोग करना होनेपर भी प्रत्येक रोगीके लिये समान दवा नहीं होती।

श्रीअरविन्द और श्रीमाताजीने सबको समान नहीं समझा। सबको समान–रूपसे शिक्षा नहीं दी। सबको समान–रूपसे आदेश नहीं दिया। इससे एक साधक रुष्ट होकर आश्रम छोड़कर चला गया। वहाँसे जानेपर उसकी और भी दुर्गति हुई। उसका साधन और भी कमजोर होता गया, तब उसने पूछा कि कैसे अब मेरी स्थिति सुधरे ? उसे उत्तर मिला कि तुमने मार्ग दिखानेवालेको ही मार्ग दिखाना चाहा, परंतु जिस रास्तेपर तुम कभी गये नहीं, रास्तेकी अनुभूति नहीं, कभी मार्ग देखा नहीं, मार्गकी अड़चनोंको जाना नहीं, तो मार्ग तय कैसे होगा ? जाननेवाला मार्गदर्शक ही वह सब जानता है, गया हुआ है, वह समझता है कि कौन–सा मार्ग कहाँ जाता है, कैसे जाता है। उसके निर्देशानुसार तो तुम किये नहीं, उलटा उसे ही उपदेश देने लगे। जैसे मार्गदर्शकको अनभिज्ञ यात्री मार्ग बताता है, इसी प्रकार साधक कहीं–कहीं अपने पथप्रदर्शकोंको भी मार्ग बताने लगते हैं कि 'वे यों करें या यों न करें ?' उनमें साधक पक्षपात देखता है, वह सोचता है कि अमुकके साथ तो इनका विशेष प्रेम है; पर हमारे साथ नहीं। इस प्रकार वह दोषदर्शन करने लगता है, जो साधकके लिये बहुत बड़े विघ्नकी बात है। साधकने जिसे श्रद्धापूर्वक अपना मार्गदर्शक मान लिया, उसके प्रति

वह समर्पित होता है, उसका कथन ही उसके लिये वेदवाक्य होता है, होना ही चाहिये। बिना श्रद्धाके काम नहीं चलता। जहाँ श्रद्धा और अपनी समझ अड़ जाती है वहाँ साधना नष्ट हो जाती है; क्योंकि अपनी समझमें होता है अभिमान और श्रद्धा होती है समर्पणमयी। जब समर्पण–बुद्धि हट जाती है और मनमें आता है कि यहाँ आकर हमने ठीक नहीं किया, तब साधक निन्दा करने लगता है, दोष देखने लगता है। दोष देखनेकी आँख बनते ही उसे पग–पगपर प्रत्येक क्रियामें दोष दिखायी देता है। एक नियम है, जो सबपर लागू होता है, कि जहाँ राग है वहाँ दोष भी गुण दीखते हैं और जहाँ द्वेष है वहाँ गुण भी दोष दीखते हैं। चाहे वह कोई ही क्यों न हो। इस प्रकार गुरुमें तथा भगवान्‌में भी जहाँ द्वेष–बुद्धि हो जाती है, वहाँ ऐसा दीखता है कि यहाँ भगवान्‌ने भूल की, वहाँ आचार्यने भूल की, यहाँ गुरुने भूल की, यहाँ ऐसा करना चाहिये था। इन्होंने यों नहीं किया तो क्यों नहीं किया। साधक इसकी मीमांसा करने लगता है; पर उसकी बुद्धि वहाँतक पहुँचती नहीं। कौन कैसा संत है, इस बातको या तो भगवान् जानते हैं या संत स्वयं जानते हैं। दूसरा क्या तौलेगा ? किसी ईंट या पत्थरको तौलनेवाले बड़े काँटेपर यदि हीरा रख दिया जाय तो परिणाम क्या होगा ? हीरा किसी छेदमें घुस जायगा और पलड़ा जरा–सा भी नीचा नहीं होगा। पत्थर तौलनेके, लकड़ी तौलनेके, कोयला तौलनेके काँटेपर हीरा नहीं तौला जाता। इसी प्रकार जिसकी बुद्धि संसारके भोगोंमें संलग्न है, संसारके प्रपञ्चमें जिसका जीवन सना हुआ है, उसकी बुद्धि संतका तौल नहीं कर सकती। उसकी बुद्धिका काँटा संतके तौलनेयोग्य है ही नहीं। इसलिये जिस साधक या अनुयायीका अपने पथप्रदर्शकके अथवा गुरुके प्रति समर्पण–भाव है, वह उन्हें यदि मार्ग बताता है, सलाह देता है कि हमारे लिये आपको यह करना चाहिये अथवा अमुकके लिये वह करना चाहिये। इसी प्रकार वह यदि प्रश्न करता है कि आपमें बुद्धिभेद क्यों है अथवा आप दो तरहकी साधना क्यों बताते हैं ? तो वह साधक अपने लक्ष्यपर कैसे पहुँचेगा ? मधुमेहके रोगीको कहा ही जायगा कि तुम मीठा मत खाना और यदि किसी रोगीका पित्त बढ़ा हुआ होगा तो वैद्य उसे मिश्री खानेको देगा। मधुमेहका रोगी यदि मूर्खतासे कहे कि इसे तो आपने मिश्री दे दी हमें मिश्री दी नहीं, यह आपने पक्षपात किया। यह आपमें दोष है कि इसे तो आपने मीठी मिश्री दे दी और मुझे नहीं दी। यदि किसीको बहुत दिनोंसे ज्वर आ

रहा है तो उसे तो वैद्य चिरायता, नीम आदि कड़वी दवाइयाँ देगा। रोगी यदि कहेगा कि हमें मीठा शरबत नहीं दिया, उसे दे दिया। वह क्या समझे कि दवा होती है रोगके अनुसार तथा प्रत्येक दवा प्रत्येकको नहीं दी जाती। दवाके निर्णयका काम रोगीका नहीं है, वह काम तो निपुण डॉक्टरका, वैद्यका, चिकित्सकका है। इसी प्रकार साधकोंमें जब भ्रम आ जाता है और अपने पथप्रदर्शकके प्रति दोषबुद्धि हो जाती है, तब उसे बतायी हुई साधनासे उसका काम नहीं चलता; क्योंकि उसकी श्रद्धा वहाँसे हट जाती है। उसे तो बात–बातमें दिखायी देता है कि यहाँ गुरुने ठीक नहीं किया। वह भले ही कहे कि यह मेरा दोष है, मेरी भूल है कि मैं आपकी बात मानता नहीं। चाहे भूल या दोष स्वीकार करे, कुछ भी करे, पर मार्ग तो अवरुद्ध हो ही गया। उसने रास्तेपर चलना बंद कर दिया, क्योंकि उसे संदेह हो गया।

एक साधकके लिये बहुत आवश्यक है कि वह अपने मार्गपर श्रद्धापूर्वक चलता रहे। यह बात दूसरी है कि श्रद्धा विवेकवती है या अंधी है। वास्तविक श्रद्धा तो अंधी ही होती है। श्रद्धामें विश्वासकी प्रधानता होती है। साधक इतना अवश्य देख ले कि यदि गुरु, आचार्य, संत, महात्माकी बतायी हुई पद्धतिसे काम करनेपर उसमें पापबुद्धि आ जाती है, उसका मन विषयोंकी ओर अधिक दौड़ने लगता है, भगवान्‌में रुचि घटती है, तब तो उसे सावधान हो जाना चाहिये। अन्यथा अपनी साधन–पद्धति चलाता रहे तथा दूसरेकी पद्धतिकी ओर न देखे। अपनी पद्धतिको ठीक–ठिकानेसे सती स्त्रीकी भाँति निभाता रहे, उसपर चलता रहे, न संदेह करे, न दूसरेकी ओर देखे, यही साधकका स्वधर्म है–

'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः'

जिसके लिये जो साधन निश्चित है, वह अपने साधनमें सावधानीके साथ श्रद्धापूर्वक संलग्न रहे। दूसरा साधक उससे अच्छा साधन करता है तो वह भी वैसा ही क्यों न करे, यह भावना आते ही उसे अपने साधनमें संदेह होने लगता है। अपने साधनमें संदेह होनेपर ऊपरकी भक्ति तो रह जाती है, पर साधना मिट जाती है।

वास्तवमें जहाँ बहुत अधिक लोग होते है, साधकोंका ढ़ेर लग जाता है, वहाँ प्रायः गड़बड़ हुआ करती है। जहाँ अपनी–अपनी विभिन्न रुचियोंको लेकर तथा विभिन्न गुप्त या प्रकट कामनाओंको लेकर साधक आया करते हैं, वहाँ गुरुलोग भी किसी प्रकार अपना पिण्ड छुड़ाया करते हैं।

समर्थ स्वामी रामदासके जीवनकी घटना है कि उनके यहाँ बड़ी भीड़ लग गयी। दिखानेके लिये सब लोग समर्थके भक्त ही थे। सभीमें दिखावेकी होड़ थी। सभी पहले पूजा करना चाहते थे। पूजा–ही–पूजामें समर्थजी विह्वल हो गये। अतः उन्होंने सबकी परीक्षा लेनेकी बात मनमें सोची ! एक दिन उन्होंने पैरमें ऊँचा–सा पट्टा बाँध लिया और लेटकर कराहने लगे। सदाकी भाँति भक्तलोग पूजा करनेके लिये आये। समर्थने उनसे कहा 'आज तो हमारे पैरमें बड़ा दर्द हो रहा है; अतः हम पूजा नहीं करायेंगे।' भक्तजन कहने लगे 'महाराज ! हमलोग श्रद्धापूर्वक आये हैं, ऊपरसे दो फूल ही चढ़ा देते हैं, फिर चले जायँगे।' इस प्रकार किसीने पूजाकी, कोई सहमा, कोई रुका भी। एकने पूछा कि 'महाराज ! क्या कष्ट है और कैसे अच्छा हो सकता है ? वस्तुतः झूठ–सचकी परीक्षा करने–हेतु यह स्वाँग रचा गया था। अतः उन्होंने कहा—'एक बड़ा–सा फोड़ा हो गया है और ऊपरतक मवाद भर गयी है। अब इस मवादके निकलनेसे ही काम् चलेगा।' भक्तने पूछा–'महाराज ! मवाद कैसे निकल सकता है ?' गुरुजीने उसका उपाय बताया कि 'हम फोड़ेमें जरा–सा छेद करते हैं और कोई व्यक्ति उस मवादको चूस ले। यद्यपि मवादको चूसनेवाला मर जायेगा, पर हम तो अच्छे हो जायँगे।' कहीं बड़ाई मिलती या नाम होता तो सभी तैयार हो जाते, पर मरनेकी बात सुनकर किसीको छींक आने लगी, किसीको लघुशंका लग गयी, किसीके घरसे बुलावा आ गया, किसीको कुछ बहाना मिल गया और किसीको कुछ। इस प्रकार आश्रम खाली हो गया। उन भक्तोंमें एक सच्चा आदर्श शिष्य भी था। उसके चूसनेके लिये प्रस्तुत होनेपर उन्होंने वहाँ छेद कर दिया। जब वह चूसने लगा तब उसे बड़ा सुन्दर स्वाद आने लगा। वास्तवमें दक्षिण भारतमें होनेवाले लम्बे और कुछ मोटे चोंचदार तोतापुरी आमको समर्थजीने परीक्षा–हेतु वहीं बाँध दिया था। जिसके कारण पैर फूल गया था। उन्होंने चोंचके स्थानपर छेद कर दिया था। उसमें तो आमका विशुद्ध मीठा रस भरा था। उस शिष्यको वह बड़ा ही मीठा लगा। वहाँ कुछ अन्य व्यक्ति खड़े थे, जो देखना चाहते थे कि देखें इसे कौन चूसता है और मरता है। चूसनेसे सारा–का–सारा पैर पिचक गया। चूसनेवालेसे न मरनेका कारण पूछनेपर उसने उत्तर दिया कि 'मैने तो आमका खूब बढ़िया रस पीया।' यह देखकर एकने कहा–हमें पता होता तो हम भी पी लेते। हमारा भी नाम होता। परंतु इसने आमका रस समझकर थोड़े

ही पीया था। इसने तो प्राणदान करनेकी बात मनमें पक्की निष्ठाके साथ रखकर निश्चयपूर्वक मवाद समझकर ही पीया था। वास्तवमें अन्य लोगोंमें निष्ठा नहीं थी। प्रायः ऐसी बात बहुत अधिक हुआ करती है। बहुत थोड़े–से सच्चे साधक हैं, जो वास्तवमें अपने–आपको अर्पण कर चुके होते हैं।

प्रत्येक साधकको वस्तुतः अपने लिये देखना है। साधक गुरुको मार्ग न दिखावे। अपना सिद्धान्त उनपर न लादना चाहे। अपनी इच्छाके अनुसार उन्हें चलाना न चाहे और उनमें दोषदृष्टि न करे। दूसरी बात यह है कि साधक अधिक भक्ति न दिखावे। दिखावेकी भक्तिकी पोल खुल जाती है। फिर उसके दिखावेपनकी आदत पड़ जाती है। वह साधना करता नहीं, दिखावा अधिक करता है, परिणामतः उसकी साधना नहीं होती है। साधना तो करनेसे होती है। अपने–आपको केवल तपस्वी, गुरुभक्त, और त्यागी दिखलानेसे कोई लाभ नहीं होता। साधना तो करनेकी वस्तु है, कहनेकी नहीं, सुननेकी नहीं, दिखानेकी नहीं। साधना वही है जो जीवनका स्वभाव बन जाय, जीवनका स्वरुप बन जाय। जो साधना केवल ऊपरसे कहनेके लिये होती है, वह तो अपने–आपको धोखा देना होता है। यदि कोई व्यक्ति पैसा कमाये नहीं और लोगोंमें यह बात फैला दे कि वह लखपति है, करोड़पति है तो उससे कठिनाइयाँ बढ़ जायँगी, चोर–डाकू भी आस–पास आने लगेंगे। राज्यवाले भी टैक्सके लिये तंग करेंगे। पासमें पैसा नहीं और पैसेवाला कहलाना चाहे तो उसके पास पैसा तो हो नहीं जायगा।

इसी प्रकार साधनामें जो मनुष्य संलग्न नहीं, तत्पर नहीं, साधना करता नहीं है, केवल दिखावा करता है तो यह साधना नहीं है। यथार्थमें तत्परता, श्रद्धा और सारे विषयोंसे इन्द्रियोंको हटा लेनेपर ही कहीं जानकारी और साधना होती है। गीतामें ये तीन बातें कही गयी हैं—'**श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।**' श्रद्धा होनी चाहिये, परंतु केवल श्रद्धासे काम नहीं चलता, साधनमें तत्परता होनी चाहिये, लगन होनी चाहिये, साथ ही परायणता भी होनी चाहिये। परायणताका स्वरूप यह नहीं होना चाहिये कि थोड़ी देर साधना करे, फिर थोड़ी देर गाना सुने, कुछ देर अच्छी तरहसे खाने–पीनेका आनन्द लूटे, थोड़ी देर सुखसे सोये, थोड़ी देर किसी बगीचेमें जाकर वहाँकी सुगन्धका आनन्द ले और थोड़ी देर सिनेमा देखे आदि।

सच तो यह है कि इन्द्रियाँ तो बहिर्मुखी हैं। चौबीस घंटेमें एक घंटेके लिये तो हम साधनामें बैठे तथा तेईस घंटेतक हमने इन्द्रियोंको

साधनाके विरोधी कार्योंमें लगाये रखा तो यह परायणता नहीं है। वस्तुतः विषय इन्द्रियोंके द्वारा हमारे मनके अंदर आते हैं। रूप आँखके द्वारा, शब्द कानके द्वारा, गन्ध नासिका द्वारा आती है। अतः इन्द्रियाँ यदि दिनभर भगवद्विरोधी कार्योंमें, संसारमें तथा पापकार्योंमें लगी रहेंगी और थोड़ी देरके लिये हम भगवान्‌का भजन करना चाहेंगे तो साधनामें सफलता कैसे मिलेगी, यद्यपि थोड़ी देरका भजन भी अच्छा है, भगवान्‌के एक बारके भी भजनकी परम महिमा है तथापि यह साधना नहीं है। साधक यदि तेईस घंटे उलटा काम करे और एक घंटा सीधे चले तो काम कैसे चलेगा ? कोई व्यक्ति एक घंटा बद्रिकाश्रमकी ओर जाय और फिर तेईस घंटे विपरीत दिशामें जाय तो बाईस घंटा उसें उलटी दिशामें जानेमें ही लगेंगे, फिर वह बद्रिकाश्रम कब पहुँचेगा ? वह तो बद्रिकाश्रमसे दूर जा रहा है, उलटा जा रहा है। अतः भगवान्‌ने गीतामें कहा है—'इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।' इन्द्रियाँ बलात् मनको दूर ले जायँगी तथा साधना छूट जायगी।

साधकका कर्तव्य है कि वह अपनेको दिखावे नहीं। दूसरे यही जानें कि यह साधक है ही नहीं। वे यही समझें कि यह तो यहाँ साधारण नौकर है, केवल काम करता है, साधक अंदर–ही–अंदर भगवान्‌को अपने हृदयमें लाकर बिठाता रहे, पूजता रहे, यह न देखे कि कौन देखता है। भगवान् तो कहते नहीं कि 'तुम इस बातका विज्ञापन करो कि तुम्हारे अंदर हम बसते हैं।'

यह बात गीताके द्वारा सिद्ध है और यह सिद्धान्त है कि भगवान् दो नहीं हैं और यह भी सही है कि भगवान्‌को दूसरा सुहाता नहीं है। उन्होंने अपने मुखसे कहा है—'मामेकं शरणं व्रज'—यदि शरणमें आना हो तो मेरे एकके आना, भला! अनेककें शरणमें जाओगे तो काम नहीं बनेगा। वे कहते है कि अव्यभिचारिणी भक्ति करो और केवल मेरी करो—'मद्‌भक्तः, मत्परमः संगवर्जितः'। किसी वस्तुमें, किसी प्राणीमें, किसी पदार्थमें, किसी दूसरे देवतामें, अपनी किसी कर्ममें, अपने किसी उपासनामें, कहींपर भी तुम्हारी आसक्ति न हो। बस, केवल मेरे लिये भक्त बनो, मेरे ही परायण हो जाओ। भगवान् तो कहते है कि तुम एकान्तमें मिलो और अकेला होकर मिलो। दूसरेको साथ लेकर मत आओ और दूसरेको साथ रखकर भी हमसे मिलना न चाहो। बस, भगवान् और भगवान्‌का भक्त

इतना ही अपेक्षित है, यह साधनाका विषय है।

यों तो भक्त और भगवान् दोंनो एक ही हैं। यद्यपि भगवान्‌की दृष्टिसे भक्त और भगवान्‌में अन्तर नहीं है; पर भक्तकी दृष्टिसे बस दो ही रहते हैं---एक भक्त और दूसरे भगवान्, अन्य कुछ भी नहीं। भक्त अपनेको तो अलग रखता है। वह मानता है कि मैं तो सबका पूजन करनेवाला हूँ, उपासक हूँ, भक्त हूँ, पर जो कुछ भी है वह सारा–का–सारा भगवान् है---'वासुदेवः सर्वमिति।' भगवान् विभिन्न रूपोंमें अभिव्यक्त हैं। भगवान् स्वयमेव कहते हैं कि हमें भीड़भाड़ पसंद नहीं है। साधना करनी हो तो एकान्तमें करो साधना एकाकी होती है। साधनाके क्षेत्रमें कुछ ऐसे साधक भी होते हैं जो छिपे रहते हैं।

एक पदमें श्रीराधाजीका यह भाव प्रकट हुआ है कि 'मेरी पूजाका फल मुझे बस यही मिले कि पूजामें बस मेरी रति बढ़े, परंतु मेरी पूजाको मेरे श्यामसुन्दर जान न पायें। वे बड़े उदार हैं, यदि वे इसे जान जायँगे तो कुछ देना चाहेंगे और मेरी प्रशंसा करना आरम्भ कर देंगे। यदि कहीं प्रशंसा मुझे प्यारी लग गयी और उनका उपकार मैंने स्वीकार कर लिया तो मेरे मनमें उनसे लेनेके नये–नये चाव उत्पन्न होने लगेंगे, फिर तो मैं पूजा कैसे कर सकूँगी ? मैं तो बस, यही चाहती हूँ कि पूजा करूँ और जिनकी पूजा करूँ उनसे लेने–देनेकी तो बात ही क्या, उन्हें पता भी न लगे कि मैं उनकी पूजा कर रही हूँ।' साधकका इस प्रकारका आदर्श भाव होना चाहिये। साधक दिखावेके लिये कुछ न करे। भगवान्‌से अपना सम्बन्ध गुप्त रखे।

यद्यपि इसका यह अर्थ नहीं कि सभी ऐसा करें। यह भिन्न–भिन्न अधिकारकी बात है। कोई उत्सव करता है तो वह भी अपने क्षेत्रमें ठीक है। पर जहाँ एकान्त साधना है, जहाँ तीव्र साधना है, वहाँ साधना और साध्य---इन दोके सिवा तीसरे किसी भाव, पदार्थ, परिस्थिति तथा प्राणीके लिये स्थान नहीं है। वहाँ तो केवल साधना और साध्य हैं। सामने भगवान् हैं और धीरेसे उनकी ओर चले जाना है बस। न किसीकी ओर ताकना है, न ताकने देना है। ताकने देनेका अर्थ है कि जो लोग ताकेंगे, उनमेसे कोई निन्दा करेंगे, कोई स्तुति करेंगे। पर उनकी बात सुनो मत। दूसरे क्या करते हैं इसे देखो मत। अपने मार्गपर---सीधे लक्ष्यपर ध्यान रखते हुए मनमें भगवान्‌का स्मरण करते हुए भगवान्‌की ओर निरन्तर बढ़ते चले जाओ बिना विरामके, बिना विश्रामके। विश्राम वे अपने–आप देंगे। जहाँ आवश्यकता होगी,

भगवान् थकावट दूर कर देंगे। वे साधकको अपने पास ही रखते हैं; क्योंकि 'योगक्षेमं वहाम्यहम्'—यह उनका प्रण है। अतः चिन्ताकी कोई बात नहीं है, पर यह विश्वास होना चाहिये। साधक इस विश्वासको लेकर चलता है, केवल बात नहीं करता।

ाधकको अधिक याद रखनेकी दो बातें हैं—(१) साधक कभी मार्गका निर्णय स्वयं न करे और वह अपने पथ-प्रदर्शकको, गुरुको, आचार्यको मार्ग न बतावे। उनके बताये हुए मार्गपर चलनेसे इनकार न करे। उनमें दोष न देखे। यह बड़ी आवश्यक बात है। दूसरी बात यह है कि साधनमें दिखावा आता हो तो उससे बचे, उसे रोकनेकी चेष्टा करे, जिससे लोग यह न जान पावें कि वह साधनामें प्रवृत है। ऐसा न होनेपर साधकके पीछे दोनों तरहके लोग लगेंगे। जो मनुष्य धनी होता है, उसके पीछे चोर-डाकू भी लगते हैं और ईर्ष्याके कारण उसकी निन्दा करनेवाले भी लगते हैं। जिसके विषयमें लोगोंको जानकारी ही नहीं है कि इसके पास भी कुछ है, वहाँ चोर-डाकू अथवा निन्दा-स्तुति करनेवाले नहीं आयेंगे; वहा निर्द्वन्द्वतासे अपने मार्गपर चला जायगा। साधकके लिये क्लेशों, कष्टों, अवरोधों और विपत्तियोंसे बचनेका एक उपाय है—अपनेको छिपाये रखना। जहाँ अधिक दिखावा होता है, वहाँ तो प्रायः धोखा होता है। अपनेको भजनानन्दी सिद्ध करना भजन नहीं है, उसी प्रकार नित्य ध्यानस्थ सिद्ध करना ध्यान नहीं है। जहाँ सिद्ध करनेकी बात होती है, वहाँ अपने व्यक्तित्वकी कुछ महत्ता मनुष्यके मनमें आ जाती है। व्यक्तित्वकी महत्तामें अहंको पोषण मिलता है।

अपने मित्रों तथा अपने ऊपर कृपा रखनेवालोंसे व्यक्तित्वकी महत्ताको जब आदर मिलता है, तब साधक नीचे गिरता है। वे लोग उसकी प्रशंसा करना तथा उसकी पूजाका प्रचार करना चाहते हैं। वे उसके सम्बन्धमें लोगोंसे कई प्रकारकी बातें कहते हैं। जिन्हें वे बातें बुरी लगती हैं, वे निन्दा करते हैं, परंतु जिन्हें अच्छी लगती हैं, वे फिर उसकी पूजामें प्रवृत्त होते हैं। इस प्रकार व्यक्तित्व-पूजाका प्रचार होता है। साधक और व्यक्तित्वकी महत्तामें परस्पर बड़ा विरोध है। साधक तो अत्यन्त विनम्र है, दीन है, अपने-आपमें अभिमान करता ही नहीं।

साधककी इस बाहरी साधनाको या किसी महात्माके महात्मापनको देखकर कई बार भ्रम हो जाता है। यद्यपि उन महात्माओंके विषयमें कुछ कहनेका मेरा अधिकार नहीं है, पर सब तो महात्मा होते नहीं, बहुत-से लोग

महात्मा कहलाते भर हैं। लोग मुझे भी भक्त कहते है, इससे क्या होता है, मैं भक्त थोड़े ही हो गया ? इसी प्रकार जो साधक, महात्मा या भक्त कहलाते हैं, उनके लिये बड़े खतरेकी वस्तु है। कहीं वह अपनी प्रशंसाको या अपनी पूजाको स्वीकार कर ले तो उसका पतन अवश्यम्भावी है।

महाभारतमें श्रीकृष्णने अर्जुनको बताया कि किसीको आत्महत्या करनी हो तो अपने मुखसे अपनी बड़ाई करे, इसीसे उसकी आत्महत्या हो गयी। बड़ोंकी हत्या करनी हो तो उनकी निन्दा करे तो उनकी हत्या हो गयी। अपने मुखसे जैसे अपनी प्रशंसा करना आत्महत्या है, उसी प्रकार प्रशंसा सुनना भी आत्महत्या है और प्रशंसा करवानेमें निमित्त बनना भी आत्महत्या है। कईबार किसी साधक या महात्माके प्रेमी या भक्त उनकी जानकारी तथा रुचिके बिना भी उनकी प्रशंसा करते हैं तथा उनके विषयमें प्रचार–सामग्री भी प्रकाशित कर देते हैं, पर यह अच्छा नहीं हैं। अनुयायी, बस निरपेक्ष रहें और यदि करना हो तो वे जैसा चाहते हैं वैसा ही करें। कबीरके आचरणपर रवीन्द्रनाथ ठाकुरने एक काव्य लिखा है। जन–संत कबीरके व्यक्तित्वकी प्रशंसा अत्यधिक फैल गयी और उनके पास आनेवाले लोगोंकी भीड़ लग गयी, तब उनका साधन रुक गया। जिसके कारण कबीरने स्वयं भगवान्‌से प्रार्थना करके इस प्रकारकी व्यवस्था करवायी, जिससे उनकी निन्दा हो। परिणामस्वरूप निन्दा होनेके कारण लोगोंने आना बंद कर दिया। सचमुच जब निन्दा होने लगती है, तब धीरे–धीरे लोग खिसकने लगते हैं। केवल दो–एक अन्तरंग प्रेमी ही होंगे जो संसार में निन्दाके पात्रके साथ रहकर भी प्रेम निभाते हैं। जहाँतक जीवनमें प्रशंसा तथा सफलता मिलती है, वहाँतक तो भक्त या प्रेमी बहुत मिलेंगे। जो जानते हैं कि इनके पास बैठनेसे हमारी प्रशंसा होगी तथा कहते भी हैं कि उनके हमारे घरमें आ जानेसे हमारा घर पवित्र हो जायगा, लोगोंमें हमारा मान बढ़ जायगा, परंतु कहीं उनका या महात्माका मान घटने लगे, तो लोग कतराने लगते हैं। मनुष्य स्वभावसे प्रशंसामें हिस्सा लेना चाहता है। बदनामीमें बेटा भी अलग हो जाता है। वह कह देता है कि हम तो जानते ही थे कि पिताजी तो बिगड़े हुए हैं ही। उसी प्रकार बेटेके लिये बाप कह देता है कि यह तो हमारे कुलमें कलंक निकला, मर जाता तो अच्छा था।

वास्तवमें कोई भी असफलतामें साथ नहीं देता। प्रेमकी बात अलग है। प्रेममें गुण नहीं देखा जाता। 'गुणरहितं कामनारहितम्'—प्रेमका स्वरूप

हैं वहाँ तो चाहे कितनी निन्दा हो, नरकोंमें भी जाना पड़े, परन्तु प्रेमी प्रेमास्पदका साथ उसी प्रकार नहीं छोड़ता, जैसे जीवात्मा शरीरको। अतः साधकको चाहिये कि वह सदा अपने–आपको पूजासे, प्रशंसासे बचाता रहे। यह बड़ी मीठी छुरी है।

साधकके मित्रोंको भी चाहिये कि वे उसका पतन करानेवाला काम न करें। किसी साधकने व्रत किया है और उसके भक्त लोग जरा–सा रस लेनेका आग्रह करते हैं। यदि साधकने उनका मन रखने या इच्छा पूरी करनेहेतु उसे ले लिया तो व्रत तो टूट ही गया। मोहवश माता अपने बच्चेको कुपथ्य देती है। यद्यपि माँ यह नहीं चाहती कि बच्चा मर जाय, या बीमार हो जाय, पर माताका जो मोह है, बेसमझी है, यह बच्चेको कुपथ्य दिला देती है। साधकको उसके मित्रगण, प्रेमीगण, भक्तगण मोहवश आराम देनेके लिये कहते हैं कि गद्दे या चटाईको आप तो समान समझते हैं। आपकी समदर्शितामें जब कोई अन्तर नहीं है तो गद्देपर सोनेमें क्या हानि है ? उनकी बात मानकर यदि गद्देपर सो गये और गद्दा मुलायम लगने लगा और मनमें गद्देकी चाह होने लगी तो पतन ही तो हुआ। यह विषयासक्ति जबतक मनमें बनी हुई है, इसे बढ़ते देर नहीं लगती। जरा–सी आगकी चिनगारी हवा लगी कि फैली और सारा घर भस्म हो गया। इसलिये साधना में प्रवृत लोगोंके मित्रोंका यह काम होना चाहिये कि उसकी साधनामें विघ्न न आवे, इस प्रकार उसकी सहायता करें। वे ही उसके सच्चे मित्र हैं, सच्चे हितैषी हैं, सच्चे घरके हैं। अत्यन्त मधुरभाषी तुलसीदासजी भी उस विषयमें इतना कटु कह गये कि जैसे कोई शाप देता है, आग लगाता है—

> जरउ सो संपति सदन सुख सुह्रद मातु पितु भाइ।
> सन्मुख होत जो राम पद करै न सहज सहाइ।।

कौन बाकी रहा——भगवान्‌की ओर जानेमें बाधक सभी जल जायँ, सबमें आग लग जाय।

> जाके प्रिय न राम–वैदेही।
> तजिये ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही।।
> तज्यो पिता प्रहलाद, बिभीषन बंधु, भरत महतारी।
> बलि गुरु तज्यो, कंत ब्रज–बनितन्हि, भये मुद–मंगलकारी।।
> नाते नेह रामके मनियत सुह्रद सुसेब्य जहाँ लौं।

अंजन कहा आँखि जेहि फूटै बहुतक कहौं कहाँ लौं।।
तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य प्रानते प्यारो।
जासों होय सनेह राम–पद ऐतो मतो हमारो।।

कहा जाता है गोस्वामी तुलसीदासजीने मीराको यही चिट्ठी लिखी थी। लिखी थी या नहीं लिखी थी, परंतु यह सिद्धान्त बड़ा सच्चा है कि अपना वही है, मित्र वही है, प्रेमी वही है, सुहृद् वही है, सच्चे माता–पिताका पद उन्हींको प्राप्त होना चाहिये, सच्ची संतान वही है, जो अपने स्नेहीको, अपने सम्बन्धीको भगवान्‌में लगावे।

चैतन्य महाप्रभु संन्यासी होकर शान्तिपुरमें आये तो भक्तोंका बड़ा समूह इकट्ठा हो गया। भक्तलोग कहने लगे कि आप यहीं रहें। चैतन्य बड़े मातृभक्त थे, उन्होंने कह दिया कि जहाँ माँ कह देंगी, वहीं रह जायँगे। यह सुनकर भक्तोंको बड़ा आनन्द हुआ कि चैतन्य तो माँका इतना अधिक प्यारा तथा लाडला बेटा है कि माँ अवश्य कहेंगी कि हमारे ही पास रहो। भक्तलोग शची माँके पास गये और बोले कि 'माता अब तो काम हो गया; क्योंकि उन्होंने कहा है कि जहाँ माँ कहेंगी वहीं रहेंगे।' मैया सोचमें पड़ गयी तथा विचार करके बोलीं कि 'अब चैतन्य निमाई नहीं है। अब यह मेरा बेटा नहीं है, अब तो यह संन्यासी है। अब तो इसके धर्मकी रक्षा करना मेरा कर्तव्य है। मोहवश उसे घरमें रहनेको कहना मेरा धर्म नहीं, उसे संन्यास–धर्मसे च्युत कर देना यह मेरा कर्तव्य नहीं।' यह सुनते ही सब लोगोंके होश उड़ गये तथा कहने लगे कि 'फिर तो ये न जानें कहाँ चले जायँगे।' नवद्वीपसे अत्यन्त दूर वृन्दावन चले जायँगे। मैयाने कहा—'तो फिर वे वृन्दावन भी न रहें और यहाँ भी न रहें, उड़ीसामें नीलाचल जाकर जगन्नाथपुरीमें रहें, जिससे वे यहाँसे दूर भी हो जायँगे और अधिक दूर भी नहीं रहेंगे। तुमलोग जा सकोगे, देख सकागे, मिल सकोगे।' उस समय वहाँ जानेमें तीन दिन लगते थे। साथियों, सम्बन्धियों, सुहृदों, माता–पिता, और पुत्रका यह कर्तव्य है कि अपने सम्बन्धीको, स्नेहीको भगवान्‌में लगाये, उसे गिराये नहीं। तुलसीदासजी कहते हैं—

सो सुखु करमु धरमु जरि जाऊ।
जहँ न राम पद पंकज भाऊ।।

जहाँ भगवच्चरणारविन्दमें प्रेम नहीं, उस धर्म–कर्ममें आग लग

जाय। वास्तवमें भगवत्प्रेमकी प्रधानता है। यद्यपि ज्ञानके लिये आग लगानेकी बात नहीं कही गयी है, पर उसपर भी तुलसीदासजीने बड़े जोरका आक्रमण किया है—

जोगु कुजोगु ग्यानु अग्यानू।
जहँ नहिं राम प्रेम परधानू।।

जहाँ श्रीरामके प्रेमकी प्रधानता नहीं, वह ज्ञान अज्ञान है और वह योग कुयोग है। बस, भगवच्चरणारविन्दमें प्रेम हो, यही साधकका काम है। इसमें जितने भी विघ्न आनेवाले हैं, जिन-जिनसे आते हैं, उन सबका त्याग करना, उन्हें परित्याज्य समझना साधकका कर्तव्य है। साधकके जो हितैषी हों, मित्र हों, अपने हों उनका यह काम है कि वे जिस पवित्र मार्गपर, जिस भगवान्के मार्गपर साधक आरूढ़ है, उसमें उसकी सहायता करें। उसे सम्बल दें, उसका साथ दें, उसे सद्बुद्धि दें, कभी वह गिरता भी हो तो मोहवश उसे डिगायें नहीं, उसे बचा लें। तभी वे सच्चे हितैषी, सच्चे मित्र और सच्चे बान्धव हैं।

——o——

किस तरफ जा रहा है

कहाँ, कहाँ? किस तरफ जा रहा? पथिक! पंथकी ओर निहार।
शीघ्र सँभल जा, लक्ष्य ठीक कर, सावधान हो, चाल सुधार।।
भूला मार्ग, सदन निज भूला, भूला बोधरूप अविकार।
भूल गया सर्वस्व सदाशिवरूप नित्य सत्, सुख-आगार।।
ठहर, दौड़ना छोड़, देख टुक पलभरको निज गृहकी ओर।
मोह त्याग, मुड़, पकड़ पंथ शुचि, सरल, सुखद, तज झूठा शोर।।
सत्वर चल चुपचाप, राम जप, देख सभीमें नन्दकिशोर।
सभी, सभीमें, सभी समय मुसकाता प्यारा मुनि-मन-चोर।।

(पद-रत्नाकर, पद सं० १०२८)

कुछ व्यावहारिक शिष्टाचार

एक व्यक्ति दूसरेके साथ जो सभ्यतापूर्ण व्यवहार करता है, उसे शिष्टाचार कहते है। यह व्यवहार ऐसा होना चाहिये कि अपने रहन–सहन तथा वचनोंसे दूसरोंको कष्ट या असुविधा न हो। शिष्टाचार दिखावटी नहीं होना चाहिये, वह सच्चा होना चाहिये। शिष्टाचार सदाचारका एक अंग है। प्रत्येक देश एवं समाजके शिष्टाचारके नियम कुछ पृथक्–पृथक् होते हैं। बचपनमें ही इन नियमोंको जान लेना चाहिये और इनके पालनका स्वभाव बना लेना चाहिये।

शिष्टाचारके दो मुख्य भाग हैं—एक अपने शरीर, वस्त्र, चलने–फिरने, खाने–पीने, उठने–बैठने आदिसे सम्बन्धित और दूसरा, दूसरे व्यक्तियोंसे व्यवहार बात–चीतसे सम्बन्धित। जैसे ही बच्चा कुछ समझने योग्य होता है, उसे इन नियमोंके पालनका अभ्यस्त बनाना चाहिये।

बड़ोंका अभिवादन

१–बड़ोंको कभी 'तुम' मत कहो, उन्हें 'आप' कहो और अपने लिये 'हम' का प्रयोग मत करो, 'मैं' कहो।

२–जो गुरुजन घरमें है, उन्हें सबेरे उठते ही प्रणाम करो। अपनेसे बड़े जब पहले मिलें, जब उनसे भेंट हो, प्रणाम करना चाहिये।

३–जहाँ दीपक जलानेपर या मन्दिरमें आरती होनेपर सायंकाल प्रणाम करनेकी प्रथा हो, वहाँ उस समय भी प्रणाम करना चाहिये।

४–जब किसी नवीन व्यक्तिसे परिचय कराया जाय, तब उन्हें प्रणाम करना चाहिये। पान–इलायची या पुरस्कार जब कोई दे, तब उस समय भी उसे प्रणाम करना चाहिये।

५–गुरुजनोंको पत्र–व्यवहारमें भी प्रणाम लिखना चाहिये।

६–प्रणाम करते समय हाथमें कोई वस्तु हो तो उसे बगलमें दबाकर या एक ओर रखकर प्रणाम करना चाहिये।

७–चिल्लाकर या पीछेसे प्रणाम नहीं करना चाहिये। सामने जाकर शान्तिसे प्रणाम करना चाहिये।

८–प्रणामकी उत्तम रीति दोनों हाथ जोड़कर मस्तक झुकाना है। जिस समाजमें प्रणामके समय जो कहनेकी प्रथा हो, उसी शब्दका व्यवहार

करना चाहिये। महात्माओं तथा साधु-संतोंके चरण छूनेकी प्राचीन प्रथा है।

६—जब कोई भोजन कर रहा हो, स्नान कर रहा हो, बाल बनवा रहा हो, शौच जाकर हाथ न धोये हो तो उसके इन कार्योंसे निवृत्त होनेपर प्रणाम करना चाहिये। उस समय उसे प्रणाम नहीं करना चाहिये।

बड़ोंका अनुगमन

१—अपनेसे बड़ा कोई पुकारे तो 'क्या' 'ऐं'' 'हाँ' नहीं कहना चाहिये।' 'जी हाँ', 'जी' अथवा 'आज्ञा' कहकर बोलो।

२—लोगोंको बुलाने, पत्र लिखाने या उनकी चर्चा करनेमें उनके नामके आगे 'श्री' और अन्तमें 'जी' अवश्य लगाओ। इसके अतिरिक्त 'पण्डित', 'सेठ', 'बाबू', 'लाला' आदि उपाधि हो तो उसे भी लगाओ।

३—अपने बड़ोंकी ओर पीठ करके मत बैठो। उनके सामने पैर फैलाकर भी मत बैठो। उनकी ओर पैर करके मत सोओ।

४—मार्गमें जब गुरुजनोंके साथ चलना हो तो उनके आगे या बराबर मत चलो, उनके पीछे चलो। उनके पास कुछ सामान हो तो आग्रह करके उसे स्वयं ले लो। कहीं दरवाजेमेंसे जाना हो तो पहले बड़ोंको जाने दो। द्वार बंद हो तो आगे बढ़कर खोल दो और आवश्यकता हो तो भीतर प्रकाश कर दो। यदि द्वारपर पर्दा हो तो उसे तबतक उठाये रहो, जबतक वे अंदर न चले जायँ।

५—सवारीपर बैठते समय बड़ोंको पहले बैठने देना चाहिये। कहीं भी बैठे हो तो बडोंके आनेपर खड़े हो जाओ और उनके बैठ जानेपर बैठो। उनसे ऊँचे आसनपर तो बैठो ही मत। बराबर भी मत बैठो। नीचे बैठनेकी जगह हो तो नीचे बैठो। स्वयं सवारीपर हो या ऊँचे चबूतरे आदि स्थानपर और बड़ोंसे बात करनी हो तो नीचे उतरकर बात करो। वे खड़े हों तो उनसे बैठे-बैठे बात मत करो, खड़े होकर बात करो। चारपाई आदिपर बड़ोंको तथा अतिथियोंको सिरहानेकी ओर बैठाना चाहिये। मोटर-घोड़ा-गाड़ी आदि, सवारियोंमें बैठना ही हो तो बड़ोंकी बायीं ओर बैठना चाहिये।

६—जब कोई आदरणीय व्यक्ति अपने यहाँ आवें, तब कुछ दूर आगे बढ़कर उनका स्वागत करना चाहिये और जब वे जाने लगें, तब सवारीतक या द्वारतक उन्हें पहुँचाना चाहिये। छाया या पानीतक पहुँचानेकी बड़ी पुरानी परम्परा है।

७—गुरु, स्वामी आदिके आसनपर उनकी अनुपस्थितिमें भी नहीं बैठना चाहिये।

८—यदि मार्गमें चलते समय छाता एक ही हो तो उसे अपने हाथ में ले लो और इस प्रकार उन्हें लगाये रहो कि ताड़ियाँ (तिल्लियाँ) उन्हें न लगें।

९—कोई सम्मानित व्यक्ति अपने यहाँ आवें तो 'आइये' नहीं कहना चाहिये। उनसे 'पधारिये' कहना चाहिये।

छोटोंके प्रति

१—बच्चोंको, नौकरोंको अथवा किसीको भी 'तू' मत कहो। 'तुम' या 'आप' कहकर बोलो।

२—जब कोई तुम्हें प्रणाम करे, तब उसके प्रणामका उत्तर प्रणाम करके, आशीर्वाद देकर या जैसे उचित हो, अवश्य दो।

३—बच्चोंको चूमो मत। यह स्वास्थ्यके लिये भी हानिकारक है। स्नेह प्रकट करनेकी भारतकी पुरानी रीति है मस्तक सूँघ लेना। यही उत्तम रीति है।

४—नौकरोंको भी भोजन तथा विश्रामके लिये उचित समय दो। बीमारी आदिमें उनकी सुविधाका ध्यान रखो। नौकर भोजन, स्नानमें लगा हो तो पुकारो मत। किसीको भी कभी नीच मत समझो।

५—तुम्हारे जानेसे, तुमसे जो छोटे हैं, उन्हें असुविधा न हो—यह ध्यान रखना चाहिये। छोटोंके आग्रह करनेपर भी उनसे अपनी सेवाका काम कम-से-कम लेना चाहिये।

स्त्रियोंके प्रति

१—अपनेसे बड़ी स्त्रियोंको माता, बराबरको बहिन तथा छोटीको कन्या समझो।

२—बिना जान-पहचानकी स्त्रीसे कभी बात करनी ही पड़े तो दृष्टि नीचे करके बात करनी चाहिये। स्त्रियोंको घूरना, उनसे हँसी करना, उनके प्रति इशारे करना या उनको छूना असभ्यता है, अशिष्टता है और पाप भी है।

३—घरके जिस भागमें स्त्रियाँ रहती हों, वहा बिना सूचना दिये नहीं जाना चाहिये। जिस मार्गसे स्त्रियाँ ही जाती हों, उधरसे नहीं जाना चाहिये। जहाँ स्त्रियाँ स्नान करती हों वहाँ नहीं जाना चाहिये। जिस कमरेमें कोई स्त्री

अपरिचित हो, अकेली हो, परदा करनेवाली हो, सोयी हो, कपड़े पहन रही हो, भोजन कर रही हो, उसमें भी नहीं जाना चाहिये।

४—गाड़ी, नाव आदिमें स्त्रियोंको बैठाकर तब बैठना चाहिये। कहीं सवारीमें या अन्यत्र स्थानकी कमी हो और कोई स्त्री आ जाय तो उठकर उसके बैठने के लिये स्थान खाली कर देना चाहिये।

५—नंगी स्त्रियोंको या उनके चित्रको देखना बहुत बुरा है। न तो स्त्रियोंके सामने अपर्याप्त वस्त्रोंमें स्नान करना चाहिये और न उनसे स्त्री—पुरुषके गुप्त रोगोंकी चर्चा करनी चाहिये।

यही बातें स्त्रियोंके लिये भी है। विशेषतः उन्हें खिड़कियों या दरवाजोंमें खड़े होकर झाँकते नहीं रहना चाहिये और न गहने पहनकर या इस प्रकार सज—धजकर निकलना चाहिये कि लोगोंका ध्यान उनकी ओर आकर्षित हो। (नारीका परम भूषण शील है।)

सर्वसाधारणके प्रति

१—यदि किसीके अंग ठीक नहीं——कोई काना, कुबड़ा, लँगड़ा या कुरूप है अथवा किसीमें तुतलाने आदिका कोई स्वभाव है तो उसे चिढ़ाओ मत, उसकी नकल मत करो। कोई स्वयं गिर पड़े या उसकी कोई वस्तु गिर जाय, किसीसे कोई भूल हो जाय, तो हँसकर उसे दुखी मत करो। यदि कोई दूसरे प्रान्तका तुम्हारे रहन—सहनमें, बोलनेके ढ़ंगमें भूल करता है, तो उसकी हँसी मत उड़ाओ।

२—कोई रास्ता पूछे तो उसे समझाकर बताओ और सम्भव हो तो कुछ दूरतक जाकर मार्ग दिखा आओ। कोई चिट्ठी या तार पढवाये तो रुककर पढ़ दो। किसीका भार उससे न उठता हो तो उसके बिना कहे ही उठवा दो। कोई गिर पड़े तो उसे सहायता देकर उठा दो। जिसकी जैसी भी सहायता कर सकते हो, उसे अवश्य करो। किसीकी उपेक्षा मत करो।

३—अंधोंको अंधा कहनेके बदले 'सूरदास' कहना चाहिये। किसीमें कोई अंग—दोष हो तो उसे चिढ़ाना नहीं चाहियें उसे इस प्रकार बुलाना या पुकारना चाहिये कि उसको बुरा न लगे।

४—किसी भी देश या जातिके झंडे, राष्ट्रियगान, धर्मग्रन्थ अथवा सम्मान्य महापुरुषोंका अपमान कभी मत करो। उनके प्रति आदर प्रकट करो। किसी धर्म या सम्प्रदाय पर आक्षेप मत करो।

५–सोये हुए व्यक्तिको जगाना हो तो बहुत धीरेसे जगाना चाहिये।

६–किसीसे झगड़ा मत करो। कोई बहसमें अपने मतपर हठ करे और उसकी बातें तुम्हें ठीक न लगें, तब भी उसका खण्डन करनेका हठ मत करो।

७–मित्रों, पड़ोसियों, परिचितोंको 'भाई', 'चाचा' आदि उचित सम्बोधनोंसे पुकारो।

८–दो व्यक्ति झगड़ रहे हों तो उनके झगड़ेको बढ़ानेका प्रयत्न मत करो। दो व्यक्ति परस्पर बातें कर रहे हों तो वहाँ मत जाओ और न छिपकर उनकी बातें सुननेका प्रयत्न करो। दो आदमी बैठे हों या खड़े हों तो उनके बीचमें मत जाओ।

९–'आपने हमें पहचाना ?' ऐसे प्रश्न करके दूसरोंकी परीक्षा मत करो। आवश्यकता न हो तो किसीका नाम–गाँव–परिचय मत पूछो और कोई कहीं जा रहा हो तो 'कहाँ जाते हो ? यह भी मत पूछो।

१०–किसीका पत्र मत पढ़ो और न किसीकी कोई गुप्त बात जाननेका प्रयत्न करो।

११–किसीकी निन्दा या चुगली मत करो। दूसरोंका कोई दोष तुम्हें ज्ञात भी हो जाय तो उसे किसीसे कहो मत। किसीने तुमसे दूसरेकी निन्दा की हो तो निन्दकका नाम मत बतलाओ।

१२–बिना आवश्यकताके किसीकी जाति, आमदनी, वेतन मत पूछो।

१३–कोई अपना परिचित बीमार हो जाय तो उसके पास कई बार जाना चाहिये। वहाँ उतनी ही देर ठहरना चाहिये जिसमें उसे या उसके आस–पासके लोगोंको कष्ट न हो। उसके रोगकी गम्भीरताकी चर्चा वहाँ नहीं करनी चाहिये। और न बिना पूछे औषध बताने लगना चाहिये।

१४–अपने यहाँ कोई मृत्यु या दुर्घटना हो जाय तो बहुत चिल्लाकर शोक नहीं प्रकट करना चाहिये। किसी अपरिचित या पड़ोसीके यहाँ मृत्यु या दुर्घटना हो जाय तो वहाँ अवश्य जाकर आश्वासन देना चाहिये।

१५–किसीके घर जाओ तो उसकी वस्तुओंको मत छुओ। वहाँ प्रतीक्षा करनी पड़े तो धैर्य रखो। कोई तुम्हारे यहाँ आवे और उसे प्रतीक्षा करनी पड़े तो समय काटनेके लिये कुछ पुस्तक, समाचार–पत्र आदि दे दो।

१६–बातचीतमें कम बोलो। किसीसे अपनी ही बात मत कहते रहो। दूसरोंकी बात धैर्यपूर्वक सुनो। कोई तुम्हारे पास आकर कुछ देर भी

बैठे तो ऐसा भाव मत प्रकट करो कि तुम ऊब गये हो।

१७–किसीसे मिलो तो उसका कम–से–कम समय लो। केवल आवश्यक बातें ही करो। वहाँसे आना हो तो उसको नम्रतापूर्वक सूचित कर दो। वह अनुरोध करे तो यदि बहुत असुविधा न हो तो कुछ देर वहाँ रुको।

अपने प्रति

१–अपने नामके साथ स्वयं 'पण्डित', 'बाबू' आदि मत लगाओ।

२–कोई तुम्हें पत्र लिखे तो उसका उत्तर अवश्य दो। कोई कुछ पूछे तो नम्रतापूर्वक उसे उत्तर दो।

३–कोई कुछ दे तो बायें हाथसे मत लो, दाहिने हाथसे लो और दूसरोंको कुछ देना हो तो भी दाहिने हाथसे दो।

४–दूसरोंकी सेवा करो, पर दूसरोंसे सेवा मत लो। किसीका भी उपकार मत लो।

५–किसीकी वस्तु तुम्हारे देखते, जानते गिरे या खो जाय तो उसे दे दो। तुम्हारी गिरी वस्तु कोई उठाकर दे तो उसे धन्यवाद दो। तुम्हें कोई धन्यवाद दे तो नम्रता प्रकट करो।

६–किसीको तुम्हारा पैर या धक्का लग जाय तो उससे क्षमा माँगो। कोई तुमसे क्षमा माँगे तो कहो 'इसमें आपसे कोई भूल नहीं हुई। क्षमा माँगनेकी कोई बात नहीं'।

७–अपने रोग, अपने कष्ट, अपनी विपत्ति तथा अपने गुण, अपनी वीरता, अपनी सफलताकी चर्चा अकारण ही दूसरोंसे मत करो।

८–झूठ मत बोलो, पर शपथ मत खाओ और न प्रतिज्ञा करनेका स्वभाव बनाओ।

९–किसीको गाली मत दो। अपशब्द मुखसे मत निकालो।

१०–यदि किसीके यहाँ अतिथि बनो तो उस घरके लोगोंको तुम्हारे लिये कोई विशेष प्रबन्ध न करना पड़े ऐसा ध्यान रखो। उनके यहाँ जो भोजनादि मिले उसकी प्रशंसा करके खाओ। वहाँ जो स्थान तुम्हारे रहनेके लिये नियत हो, वहीं रहो। भोजनके समय उनको तुम्हारी प्रतीक्षा न करनी पड़े। तुम्हारे उठने–बैठने आदिसे वहाँके लोगोंको असुविधा न हो। तुम्हें जो फल, कार्ड, लिफाफे आदि आवश्यक हों, वह स्वयं खरीद लाओ।

११– किसीसे कोई वस्तु लो तो उसे सुरक्षित रखो और काम करके लौटा दो। जिस दिन कोई वस्तु लौटानेको कही गयी हो तो उससे पहले ही उसे लौटा देना उत्तम होता है।

१२–किसीके घर जाते या आते समय द्वार बंद करना मत भूलो। कोई वस्तु किसीकी उठाओ तो उसे फिर यथास्थान रख दो।

मार्गमें

१–रास्तेमें या सार्वजनिक स्थलोंपर न थूको, न लघुशंकादि करो और न वहाँ फलोंके छिलके, या कागज आदि डालो। लघुशंकादि करनेके नियत स्थानोंपर ही करो। इसी प्रकार फलोंके छिलके, रद्दी कागज आदि भी एक किनारे या उनके लिये बनाये गये स्थलोंपर डालो।

२–मार्गमें काँटे, काँचके टुकड़े या कंकड़ पड़े हों तो उन्हें हटा दो।

३–सीधे शान्त चलो। पैर घसीटते, सीटी बजाते, गाते, हँसी–ठट्ठा करते चलना असभ्यता है। छड़ी या छत्ता घुमाते हुए भी नहीं चलना चाहिये।

४–रेलमें चढ़ते समय, नौकादिसे चढ़ते–उतरते समय, टिकट लेते समय धक्का मत दो। क्रमसे खड़े हो और शान्तिसे काम करो। रेलसे उतरनेवालोंको उतर लेने दो, तब चढ़ो। डब्बेमें बैठे हो तो दूसरोंको चढ़नेसे रोको मत। अपने बैठनेसे अधिक स्थान मत घेरो।

५–रेलके डब्बेमें या धर्मशालामें वहाँकी किसी वस्तु या स्थानको गंदा मत करो। वहाँके नियमोंका पूरा पालन करो।

६–रेलके डब्बेमें जल मत गिराओ। थूको मत, नाक मत छिनको, फलोंके छिलके न गिराओ, सबको बाहर डालो, जलको बाहर फेंकना हो तो हाथ नीचे करके जल फेंको, जिसमें दूसरोंपर छींटे न पड़ें।

७–रेलमें या किसी भी सार्वजनिक स्थानपर धूम्रपान मत करो, विशेषतः यदि तुम्हारे पासके व्यक्तिको इसमें आपत्ति हो। पासके व्यक्तिसे नम्रतापूर्वक पूछकर ही बहुत आवश्यक होनेपर ऐसा करना चाहिये।

८–बाजारमें खड़े–खड़े या मार्ग चलते कुछ खाने लगना बहुत बुरा स्वभाव है। वह एक प्रकारकी पशुता है।

९–जहाँ जाने या रोकनेके लिये तार लगे हों, दीवार बनी हों, काँटे डाले गये हों, उधरसे मत जाओ।

१०–एक दूसरेके कंधेपर हाथ रखकर मार्गमें मत चलो।

११–जिस ओरसे चलना उचित हो, मार्गके उसी किनारेसे चलो। मार्गमें खड़े होकर बातें मत करो। बात करना हो तो एक किनारे हो जाओ।

१२–रास्ता चलते इधर–उधर मत देखो। झूमते या अकड़ते मत चलो। अकारण मत दौड़ो। सवारीपर हो तो दूसरी सवारीसे होड़ मत करो।

तीर्थ तथा सभा–स्थलमें

१–कहीं जलमें कुल्ला मत करो और न थूको। अलग पानी लेकर जलाशयसे कुछ दूर शौचके हाथ धोओ तथा कुल्ला करो और मल–मूत्र पर्याप्त दूर त्याग करो।

२–तीर्थ–स्नानके स्थानपर साबुन मत लगाओ। वहाँ किसी प्रकारकी गंदगी मत करो। नदीके किनारे टट्टी–पेशाब मत करो।

३–देव मन्दिरमें देवताके सामने पैर फैलाकर या पैरपर पैर चढ़ाकर मत बैठो और न वहाँ सोओ। वहाँ शोरगुल भी मत करो।

४–सभामें या कथामें परस्पर बातचीत मत करो। वहाँ कोई पुस्तक या अखबार भी मत पढ़ो। जो कुछ हो रहा है, उसे शान्तिसे सुनो।

५–खाँसना, छींकना, जम्हाई लेना, किसी दूसरेके सामने या सार्वजनिक स्थलपर पड़ जाय तो मुखके आगे कोई वस्त्र कर लो। बार–बार छींक या खाँसी आती हो या अपानवायु छोड़नी हो तो वहाँसे उठकर अलग चले जाना चाहिये।

६–कोई दूसरा अपानवायु छोड़े, खाँसे या छींके तो शान्त रहो। हँसो मत और न घृणा प्रकट करो।

७–यदि तुम पीछे पहुँचे हो तो भीड़में घुसकर आगे बैठनेका प्रयत्न मत करो; पीछे बैठो। यदि तुम आगे या बीचमें बैठे हो तो सभा समाप्त होनेतक बैठे रहो; बीचमें मत उठो। बहुत अधिक आवश्यकता होनेपर ऐसे धीरेसे उठो कि किसीको बाधा न पड़े।

८–सभा–स्थलमें या कथामें नींद आने लगे तो वहीं झोंके मत लो, धीरेसे उठकर पीछे चले जाओ और खड़े रहो।

९–सभा–स्थलमें, कथामें बीचमें बोलो मत। कुछ पूछना, कहना हो तो लिखकर प्रबन्धकोंको दे दो। क्रोध या उत्साह आनेपर भी शान्त रहो।

१०–किसी सभा–स्थलमें किसीकी कहीं टोपी या रूमाल आदि रखें हों तो उन्हें हटाकर वहाँ मत बैठो।

११–सभा–स्थलके प्रबन्धकोंके आदेश एवं वहाँके नियमोंका पालन करो।

१२–किसीसे मिलने या किसी सार्वजनिक स्थानपर प्याज, लहसुन अथवा कोई ऐसी वस्तु खाकर मत जाओ जिससे तुम्हारे मुखसे गन्ध आवे। ऐसा कोई पदार्थ खाया हो तो इलायची, सौंफ आदि खाकर जाना चाहिये।

१३–सभामें जूते बीचमें न खोलकर एक ओर किनारेपर खोलो। नये जूते हों तो एक–एक जूता अलग–अलग छिपाकर रख दो।

विशेष सावधानी

१–चुंगी, टैक्स, किराया आदि तुरंत दे दो। इनको चुरानेका प्रयत्न कभी मत करो।

२–किसी कुली, मजदूर, ताँगेवालेसे किरायेके लिये झगड़ो मत। पहले तय करके काम कराओ। इसी प्रकार शाक, फल आदि बेचनेवालेसे बहुत झिकझिक मत करो।

३–किसीसे कुछ उधार लो तो ठीक समयपर उसे स्वयं दे दो। मकानके किराये आदि भी समयपर देना चाहिये।

४–यदि कोई कहीं पान, इलायची आदि भेंट करे तो उसमेंसे एक–दो ही उठाना चाहिये।

५–वस्तुओंको धरने–उठानेमें बहुत शब्द न हों ऐसा ध्यान रखना चाहिये। द्वार भी धीरेसे खोलना, बंद करना चाहिये। दरवाजा खोलो तब उनके अटकनें लगाना तथा बंद करना एवं चिटकनी लगाना मत भूलो। सब वस्तुएँ ध्यानके साथ उनके अपने–अपने ठिकानेपर ही रखो, जिससे जरूरत होनेपर ढूँढ़ना न पड़े।

६–कोई पुस्तक या समाचार पत्र पढ़ता हो तो पीछे या बगलसे झुककर मत पढ़ो। वह पढ़ चुके, तब नम्रतासे माँग सकते हो।

७–कोई तुम्हारा समाचार पत्र पढ़ना चाहे तो उसे पहले पढ़ लेने दो।

८–जहाँ कई व्यक्ति पढ़नेमें लगे हों, वहाँ बातें मत करो, जोरसे मत पढ़ो और न कोई खटपटका शब्द करो।

९–जहाँतक बने किसीसे माँगकर कोई चीज मत लाओ, जरूरत ही हो तो लाओ पर उसे सुरक्षित रखो और अपना काम हो जानेपर सुरक्षित रूपसे तुरंत लौटा दो। बर्तन आदि हों तो भलीभाँति मँजवाकर तथा कपड़ा, चादर, चाँदनी हो तो धुलवाकर वापस करो।

बातचीत

१–सुनो अधिक, बोलो बहुत कम। बोलो तो सत्य, हितकारी, प्रिय और मधुर वचन बोलो।

२–बात करते समय किसीके पास एकदम सटो मत और न उसके मुखके पास मुख ले जाओ।

३–किसीकी ओर अँगुली उठाकर मत दिखाओ। किसीका नाम पूछना हो तो 'आपका शुभ नाम क्या है।' इस प्रकार पूछो। किसीका परिचय पूछना हो तो पूछो, 'आपका परिचय ?'

४–किसीको यह मत कहो कि 'आप भूल करते हैं ?' कहो कि 'आपकी बात मैं ठीकसे नहीं समझ सका।'

५–दो व्यक्ति बात करते हों तो बीचमें मत बोलो। किसीकी बात समाप्त हुए बिना बीचमें मत बोलो।

६–जहाँ कई व्यक्ति हों, वहाँ काना–फूसी मत करो। किसी सांकेतिक या ऐसी भाषामें भी मत बोलो जो तुम्हारे बोलचालकी सामान्य भाषा नहीं और जिसे वे लोग नहीं समझते। रोगीके पास तो एकदम काना–फूसी मत करो, चाहे तुम्हारी बातका रोगीसे कोई सम्बन्ध हो या न हो।

७–'जो है सो' आदि आवृत्ति–वाक्य (सखुन तकिया)–का स्वभाव मत डालो।

८–बिना पूछे राय मत दो।

९–बहुत–से शब्दोंका सीधा प्रयोग भद्दा माना जाता है। मूत्र–त्यागके लिये लघुशंका, मलत्यागके लिये शौच, मृत्युके लिये परलोकवास, विधवाके लिये दुःख पड़ना आदि शब्दोंका प्रयोग करना चाहिये।

१०–बहसमें भी शान्त स्वरमें बोलो। चिल्लाने मत लगो। दूर बैठे व्यक्तिके पास जाकर बात करो, चिल्लाओ मत।

११–पीठ–पीछे किसीकी निन्दा मत करो और न सुनो। किसीपर व्यंग मत करो।

१२–हँसना हो तो भी बहुत ठठाकर मत हँसो। अकारण मत हँसो।

अपनेसे सम्बन्धित

१–नित्य मंजन या दातौन करके दाँतोंको स्वच्छ रखो। दाँतोंपर

मैल न रहे और मुखसे दुर्गन्धि न आवे। मिस्सी, तंबाकू या ऐसी कोई वस्तु न खाओ या लगाओ, जिससे दाँत काले या लाल दीखें।

२—नित्य स्नान करो। शरीरपर मैल न चढ़ा रहे। हाथ—पैर स्वच्छ रहें, काले या स्याही आदिसे रँगे हाथ असभ्यताके चिह्न हैं।

३—वस्त्र मैले—कुचैले नहीं होने चाहिये। उनमें स्याही, हल्दी, रंग आदिके धब्बे आदि न लगे हों। जो भी वस्त्र हों, स्वच्छ हों।

४—बहुत भड़कीले वस्त्र अशिष्टताके सूचक होते हैं। वस्त्र सादे होने चाहिये। स्थानके तथा ऋतुके उपयुक्त वस्त्र होना चाहिये। मन्दिरमें, सत्संगमें धोती पहनकर जाना उत्तम है। वहाँ पतलून, कोट पहनकर जाना अच्छा नहीं। इसी प्रकार आफिसोंमें नंगे शरीर नहीं जाना चाहिये। गरमियोंमें गरम कोट या अधिक वस्त्र लादे रहना तथा सर्दियोंमें पतले वस्त्र पहनना भी अच्छा नहीं।

५—केश अस्त—व्यस्त या मैले नहीं रखने चाहिये तथा न उनमें इतना तेल लगाना चाहिये जो अधिक दीखे।

६—हाथ—पैरके नख कटवाते रहना चाहिये। बढ़े, मैल—भरे नख मत रखो।

७—मुखमें, अँगुली, पेन्सिल, चाकू, पिन, सूई, चाबी या वस्त्रका छोर लगाना, कानमें तिनका, नाकमें अँगुली डालना, हाथसे या दाँतसे तिनके नोचते रहना, दाँतसे नख काटना; भौओंके केशोंको नोचते रहना—गंदी आदतें हैं। इन्हें झटपट छोड़ देना चाहिये।

८—मुखमें अँगुली लगाकर पुस्तकोंके पृष्ठ मत उलटो। थूक लगाकर टिकिट या लिफाफे मत चिपकाओ।

९—स्थिर बैठो और स्थिर खड़े रहो। हाथ—पैरसे भूमि कुरेदना, तिनके तोड़ना, बार—बार सिरपर हाथ फेरना, बटन टटोलते रहना, वस्त्रके छोर उमेठते रहना, झूमना, अँगुलियाँ चटकाते रहना—बुरे स्वभावके चिह्न हैं।

१०—लिखनेमें स्याही मत छिड़को। काट—कूट मत करो। स्याही गिरे नहीं, ऐसी सावधानी रखो। अक्षर साफ तथा सुन्दर लिखो।

११—स्नान करते समय दूसरोंपर छींटे न पड़ें, यह ध्यान रखो। हाथ धोओ तो पोंछ लो, छिड़ककर छींटे मत उछालो। भोजन करके कुल्ले करो। हाथ—पैर धोकर भोजन करो। जूठा हाथ कहीं मत लगाओ।

१२—व्यर्थ पानी मत गिराओ। पानीके नल और बिजलीकी रोशनी

अनावश्यक मत खुला रहने दो।

१३–चाकूसे मेज मत खरोंचो। पेन्सिलसे इधर–उधर चिह्न मत करो। दीवालपर मत लिखो।

१४–पुस्तक खुली छोड़कर मत जाओ। पुस्तकोंपर पैर मत रखो और न उनसे तकियेका काम लो।

१५–पीनेके पानी या दूध आदिमें अँगुली मत डुबाओ।

इस प्रकार जिस प्रदेशमें भोजन करनेके लिये बैठने, भोजन करने, स्नान करने, वस्त्र पहनने आदिके जो लोकाचार मान्य हों, उनका पालन करना चाहिये।

——o——

जीवनका उद्देश्य

जबसे बना हमारे जीवनका उद्देश्य 'अर्थ', 'अधिकार'।
तबसे उठा पवित्र त्याग, आध्यात्मिक बलका शुचि आधार।।
आयी अस्त–व्यस्तता, छाया सभी ओर व्यापक व्यामोह।
मिटी सभी कर्तव्य–भावना, छाया नीच स्वार्थ, मद–मोह।।
हटा हृदयसे प्रेम, द्वेष–हिंसाने छीन लिया वह स्थान।
बुद्धि तामसी हुई, मिट गया धर्माधर्म–हिताहित–ज्ञान।।
तोड़–फोड़कर, आग लगाकर, हत्या कर, करते अभिमान।
दुर्बलको दुख देते, करते गुरुजनका सगर्व अपमान।।
छाया भ्रष्टाचार चतुर्दिक्, अनाचार, अति अत्याचार।
हुआ विनाश सत्यका, हुआ प्रवर्तित मिथ्यामय व्यापार।।
राजनीतिने कर ली वेश्यावृत्ति सहर्ष आज स्वीकार।
जहाँ 'अर्थ' वहाँ चली वरणकर, छोड़ सभी सिद्धान्त विचार।।
कैसे यह बहुमुखी रुकेगा पतन, पुनः होगा उत्थान ?
सबको दे सद्‌बुद्धि पतित–पावन करुणाकर श्रीभगवान्।।

(पद–रत्नाकर, पद सं० १४६१)

मातृभूमिकी पूजा

भारतवासी भगवान्‌के अनन्त ऐश्वर्यको युग–युगान्तरसे भिन्न–भिन्न भावोंमें तथा भिन्न–भिन्न आकारोंमें पूजते चले आये हैं। आज भी हम ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वरके रूपमें भगवान्‌की सृष्टि, स्थिति एवं संहारकारिणी शक्तिकी पूजा करते हैं। सरस्वती एवं लक्ष्मीको हम उन्हींके ज्ञान और ऐश्वर्यकी अधिष्ठात्री देवी समझकर पूजते हैं। सूर्य और अग्निमें उन्हींकी ज्योतिका दर्शनकर तथा गंगा–यमुनादिको उन्हींकी करुणाका प्रवाह समझकर पूजते हैं। इसी तरह पीपलके वृक्षमें, तुलसी–कुँजमें, पत्थरमें, मिट्टीमें––जहाँ–तहाँ हम उन्हींको अधिष्ठित समझकर उनकी पूजा करते हैं। परंतु हाँ, आज हम मातृभूमिके रूपमें उनकी पूजा नहीं करते––अनेक दिनोंसे हम ऐसा करना भूल गये हैं।

हिंदुओंने असंख्य भावोंसे भगवान्‌की पूजा की है। नन्द–यशोदाने पुत्रभावसे, देवी रुक्मिणीने पतिभावसे, वीरशिरोमणि अर्जुनने सखाभावसे, स्वामी श्रीशंकराचार्यने आत्मभावसे, तुलसीदासजीने जगदीश्वरभावसे, श्रीचैतन्यने प्राणेश्वरभावसे, छत्रपति शिवाजीने स्वदेशभावसे और महाराणा प्रतापने स्वजातिभावसे उनकी पूजा की है।

आज सामाजिक अवस्था तथा देश–कालानुसार हिंदुओंमें अनेक देवी–देवताओंकी पूजा होती है। देवताका नाम कुछ भी रखा जाय तथा उनकी पूजाकी पद्धति कुछ भी हो, पर वह सब उसी एक जगन्नियन्ता जगदीश्वरके प्रभावसे अनुष्ठित होती है तथापि हमारे धर्मशास्त्रोंमें लिखा है कि विशेष देवताकी आराधनासे विशेष फल प्राप्त होता है। आज वर्तमान युगमें सर्वमंगलमयी शिवा, सर्वार्थसाधिका, सर्वैश्वर्यरूपिणी जननी–जन्मभूमिकी पूजाकी पूर्ण आवश्यकता है, मातृस्तनोंके साथ–साथ जिसके जल, फल तथा अन्नसे हमारी देह परिपुष्ट हुई है, जननीकी तरह जिसने हमको वक्षःस्थलपर धारणकर रखा है तथा हमारा अन्तिम चिर विश्रामस्थान भी जिसकी गोदमें होनेवाला है, ऐसी अन्नपूर्णारूपिणी जगद्धात्री जननीकी पूजा न करना हमारे धर्म–भावके परिचायक कदापि नहीं हो सकता। आज शुभकाल समागत हुआ है, चित्तसे अपने देह और मनको पवित्र करके आओ भ्रातृगण ! आज हम सब मिलकर जननी–जन्मभूमिकी पूजा करनेमें प्रवृत होंवे।

भक्तगण अपने इच्छानुसार अपने इष्टदेवताकी मूर्ति कल्पित कर

उसका ध्यान करते हैं। आओ, आज हम भी अपने इष्टदेवताका जननी–जन्मभूमिके रूपमें ध्यान करें। हिमाचल जिसके मस्तकका किरीट है, जाह्नवी जिसका कण्ठहार है, घनश्याम वृक्षराशि जिसके विचित्र वस्त्र हैं, मृगमद मलयजसे जिसका देह सौरभित हो रहा है, महासमुद्र जिसके चरण–युगलोंको धोता हुआ अविराम कलकल–स्वरमें मानो जिसकी वन्दना कर रहा है, नव–प्रस्फुटित कमलदल जिसके कण्ठप्रदेशमें शोभा पा रहे हैं और नवोदित अरुण किरणोंसे जिसका मुखमण्डल उद्भासित हो रहा है––ऐसी 'भुवनमोहिनी' हमारी जननी है, जिसकी आराधना एवं वन्दनासे हम इस जगत्में अतुल सुखके भागी हो सकते हैं। क्या हम उसको भूले ही रहेंगे ?

यहाँपर यह प्रश्न हो सकता है कि हम किस मन्त्रसे माताकी आराधना करें तथा मातृपूजाके निमित्त किन–किन सामग्रियोंको एकत्रित करें ? इसका सीधा उत्तर यह है कि संतान माताको जिस नामसे संबोधित करे, वही उसकी पूजाका मन्त्र है तथा माताका मुख उज्जंवल करनेके लिये जो कुछ करे, वही उसकी पूजाका आयोजन है। आज हमें उचित है कि हम अपना तन, मन, धन, विद्या, बुद्धि, सामर्थ्य, पुरुषार्थ आदि समस्त शक्तियोंको मातृपूजाकी सामग्रियोंके रूपमें समर्पण कर दें––अपने हृदय–मन्दिरमें मातृ–मूर्ति स्थापित करें।

'एक समय फारसका एक सम्राट् शिकार खेलनेके लिये जा रहा था। रास्तेमें हठात् एक किसान सामने आ गया। किसान यह सोचकर कि 'खाली हाथ राजाका दर्शन नहीं करना चाहिये'––राजाको भेंट देनेके लिये पासके ही एक तालाबसे एक अञ्जुलि जल लेकर सम्राटके सम्मुख हुआ। परम प्रतापान्वित, अतुलित शक्तिशाली सम्राट्ने सरल हृदय किसानकी निष्कपट राजभक्ति देखकर उसकी वह सामान्य जलाञ्जुलि सादर ग्रहण की।' इसी प्रकार आज हम भी दरिद्र तथा अधःपतित होनेपर भी भक्तिभरे हृदयसे मातृचरणोंमें अन्ततः एक अञ्जलि जल प्रदान करनेमें तो समर्थ हैं ! माता हमारे सामान्य उपहारको अवश्य ही सादर ग्रहण करेगी। इसीसे आओ भाइयो ! आज हम अपने–अपने सामर्थ्यके अनुसार मातृपूजा करनेमें प्रवृत्त होवें। हमारे देशके कविगण माताका यशोगान करें, लेखक माताको गौरवान्वित बनानेवाले ग्रन्थ लिखें, चित्रकारगण जननीकी मूर्तियाँ अंकित करें, शिल्पी और व्यवसायीगण देशकी समृद्धि बढ़ानेका प्रयत्न करें, इसी प्रकार धनी, दरिद्र, पंडित, मूर्ख––सभी अपनी–अपनी शक्ति एवं सामर्थ्यानुसार

मातृपूजा करनेमें दत्तचित्त होवें।

इस पूजामें जातिभेद नहीं है। सभी समान–रूपसे मातृपूजाके अधिकारी हैं। दसों दिशाओंमें मातृमूर्ति विराजमान है, भक्तगण अपने इच्छानुसार मातृमूर्तिके दर्शन कर सकते हैं। प्रिय भ्रातृगण ! आप साकारवादी हों अथवा निराकारवादी, यदि आपने कभी अपने इष्टदेवताका, माता, पिता या गुरुके रूपमें ध्यान किया है तो एक बार जननी–जन्मभूमिके रूपमें भी ध्यान कीजिये।

भक्तगण भगवान्‌को सर्वत्र विराजित देखकर कृतार्थ होते हैं। आज आप भी अपनी बहुसाधुजनसेविता, बहुपुण्यमयी, सुजला, सुफला, जननी–जन्मभूमिको––'स्वर्गादपि गरीयसी' मातृभूमिको, अपने प्राणाराममें अधिष्ठित देखकर अपने जन्म तथा जीवनको सार्थक कीजिये।

भगवान् श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि परब्रह्मके दर्शन करनेपर समस्त जगत् नन्दनवन–सा भासित होने लगता है, समस्त वृक्ष कल्पवृक्ष मालूम होते हैं एवं संसारकी समस्त नदियाँ भगवती जाह्नवीके समान प्रतीत होने लगती हैं। इसी प्रकार यदि आज हम जन्मभूमिको अपने इष्टदेवताके रूपमें देखने लगेंगे तो हमारा स्वदेश नन्दनवन हो जायगा तथा सब प्राणियोंमें मातृप्रेमका संचार होगा, सबमें स्वदेश–भक्ति भी जगेगी। सब एक–दूसरेके दुःखमें दुखी तथा सुखमें सुखी होंगे और विरोधका नाश होगा।

हाँ, वह सुदिन कब आयेगा जब कि भारतवासी भगवान्‌को मातृभूमिके रूपमें तथा मातृभूमिको भगवान्‌के रूपमें देखकर कृतार्थ होंगे।

अनेक दिनोंसे हम मातृभूमिके रूपमें परमात्माको आत्मसमर्पण करना भूल गये। हाँ, आज कौन हमको जगायेगा ? आज भारतके वे पूजनीय और प्रातःस्मरणीय महात्मा कहाँ हैं, जिन्होंने मातृभूमिके रूपमें भगवान्‌को आत्मसमर्पण कर अपने आर्यत्वका पूर्ण परिचय दिया था ?

हमारे शास्त्रकारोंका कथन है कि 'भक्तोंकी आराधनासे प्रसन्न होकर समय–समयपर भगवान् अपनी एक विशेष मूर्ति प्रकट करते हैं।' क्या ऐसा कोई नहीं है जो अपनी असाधारण साधना एवं उग्र तपस्याके प्रभावसे भगवान्‌को हमारे हृदय–मन्दिरमें मातृभूमिके रूपमें अवतरित कर सके ?

'हे दयामय जगदीश्वर ! भारतवासियोंने ज्ञानसे या अज्ञानसे सर्वदा ही तुम्हारे ऐश्वर्यकी पूजाकी है और कर रहे हैं। इसीसे हे मधुसूदन ! आप कृपाकर पुनः दर्शन दीजिये। अपनी इस घोषणाको स्मरण

कीजिये—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।

भगवन्! उपयुक्त समयपर शीघ्र ही हमारे हृदय–मन्दिरमें अवतीर्ण होकर हमें कृतार्थ कीजिये, जिससे हम मातृभूमिको आपके रूपमें देखकर अपने जीवनको सफल करें और मनुष्य–जन्मको सार्थक करें।

(यह लेख आजसे लगभग ६१ वर्ष पहले जनवरी सन् १९११ ई० के 'मर्यादा' मासिक पत्रमें पृ० १११–११३ पर छपा था। उस समय अपना देश परतन्त्र था, परंतु आज तो मातृभूमिकी पूजा उससे भी अधिक आवश्यक हो गयी है।)

—o—

कैसी देश भक्ति ?

पहले 'मैं', फिर 'मेरी पार्टी', फिर आता है 'मेरा देश'।
'मैं' का स्वार्थ प्रथम, द्वितीय है पार्टीका, 'स्वदेश' का शेष।।
'देशभक्त' मैं सदा चाहता, हो स्वदेशका नित कल्याण।
पर 'मेरी पार्टी' को यदि मिलता हो उससे 'धन–पद–मान'।।
'पार्टी' को भी 'धन–पद' मिलना है मुझको तब ही स्वीकार।
यदि 'मैं' पाता हूँ निश्चित विशेष धन–मान–पूर्ण अधिकार।।
ऐसा 'मूढ़' न 'देशभक्त' मैं, कर अपना निजस्व बलिदान।
सोचूँ जो 'पार्टी–'स्वदेश' का हित–अधिकार–स्वार्थ–सम्मान।।
हाँ, जब बोलूँगा, तब लूँगा पहले सदा 'देश' का नाम।
'पार्टी' का पश्चात्, न लूँगा अपना नाम कभी बेकाम।।
पर मेरे हितके बाधक 'स्वदेश–हित' को भी दूँगा त्याग।
बदलूँगा मैं 'पार्टी' को भी निज हित हेतु, न रखकर राग।।
क्योंकि वस्तुतः लक्ष्य एक है, सफल सदा करना निज स्वार्थ।
इसी एकमें हित है, गौरव–मण्डित यही परम पुरुषार्थ।।
यही तत्त्व है 'राजनीति' का, 'नेताका स्वरूप' यह 'भव्य'।
श्रेय त्यागकर 'स्वार्थपरायण रहना'—एक यही 'कर्तव्य'।।
'स्वार्थ–साधना' एकमात्र, बस यही मानना, रखना ध्यान।
'मानव धर्म' यही केवल है, 'मानवताका लक्ष्य' महान।।

(पद–रत्नाकर, पद सं० १४८४)

साधक और विषयीका दृष्टिभेद

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात् पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात् कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने।।

मोहकी बड़ी महिमा है। यह इतना गहरा छाया रहता है कि आदमी मोहकी बुराई करता हुआ भी मोहमें फँसा रहता है। वह मोहको बताता है, दूसरोंके मोहकी व्याख्या करता है, मोहका दोष बताता है और उससे होनेवाली अवनतिको बताता है। परंतु स्वयं मोहसे इतना लिपटा रहता है कि उसे छोड़ना नहीं चाहता है। जबतक मोह है, तबतक भगवत्–चरणारविन्दसे अनुराग नहीं हो सकता है। हर मनुष्य, हर जगह, हर क्षेत्रमें, हर समय मोहसे अभिभूत रहता है।

मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग'।।

मोह गये बिना भगवच्चरणारविन्दमें दृढ़ अनुराग नहीं होता है। मोहका अर्थ है मूर्खता; सांसारिक कामना–वासनासे अभिभूत वृत्ति। जो वृत्ति कामना–वासनासे ऊपर उठकर भगवान्‌में नहीं लगती और कामना–वासनासे निरन्तर छायी रहती है, उस वृत्तिका नाम मोह है। मोह विक्षोभ, काम और लोभसे होता है।

'कामात्क्रोधोऽभिजायते' और 'क्रोधाद्भवति सम्मोहः'

मनुष्यके मनमें जो प्रकट या अप्रकट कामनाएँ रहती हैं, वे कामनाएँ ही मनुष्यको सम्मोहित करती हैं और मोहित मनुष्य ही निरन्तर कामनाओंके वशमें रहता है। यह अन्योन्याश्रित है कि मोहसे कामना बढ़ती है और कामनाओंसे मोह बढ़ता है। जबतक मनुष्यकी बुद्धि मोहित है, तबतक वह यथार्थ दर्शन नहीं कर सकता है। राग–द्वेषसे रहित जब नेत्र होते हैं, तब उसको वस्तु यथार्थरूपसे दीखती है। राग–द्वेषयुक्त होनेपर उसी अनुरूप वस्तु दीखती है। रागमें दोष भी गुण दिखता है और द्वेषमें गुण भी दोष दिखता है। यह राग–द्वेषका स्वाभाविक परिणाम है। भगवान्‌ने कहा है कि राग–द्वेष हैं सभी जगह; सभी विषयोंमें सर्वदा बैठे हुए हैं—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ।।

(गीता ३। ३४)

राग–द्वेष हैं, प्रत्येक इन्द्रियके प्रत्येक अर्थमें, प्रत्येक विषयमें निरन्तर

डेरा डाले बैठे हैं, व्यवस्थापूर्वक बैठे हैं। इनके वशमें नहीं होना चाहिये। इनके वशमें होनेसे लुट जाओगे, क्योंकि ये परिपन्थी हैं। हम लोग राग–द्वेषके निरन्तर वशमें रहते हैं और ये हमें निरन्तर लूटते रहते हैं; क्योंकि हम कामनाके गुलाम हैं, भगवान्‌के नहीं।

'तावद् रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम्।'

जबतक मनुष्य भगवान्‌का नहीं बन जाता, तबतक राग–द्वेषका शिकार रहता है। राग–द्वेषरूपी चोर हमेशा उसके पीछे लगे रहते हैं।

यह जो मोह है, इसने हमें इस तरह मोहित कर रखा है, फँसा रखा है कि हम जानते–देखते हुए भी, संसारकी गति और उसका परिणाम जानते हुए भी भ्रमितबुद्धि हो जाते हैं, जिससे हम उस समय स्पष्ट नहीं देख सकते। अपने अंदरकी बुराईपर ध्यान नहीं देते और दूसरेकी उतनी ही बुराईकी आलोचना करते हैं।

आप पाप को नगर बसावत सहि न सकत पर खेरो,

अपने तो पापका नगर बसाता है और दूसरेका खेरा (छोटा गाँव) भी जरा–सा वह सहन नहीं कर सकता।

मोह जब नष्ट होने लगता है, तब अपने दोष स्पष्ट दिखने लगते हैं। भूलका ही नाम मोह है और भूल स्वाश्रित होती है। यह सिद्धान्त है। भूल रहती है अपने आसरेसे ही और इसके मिटनेसे ही यथार्थ दिखता है। उस समय उसको अपने दोष दिखते हैं। अपनी स्थिति दिखती है, उलटे या सीधे जा रहे हैं, स्पष्ट दिखायी देता है। राग–द्वेषरूपी चश्मेके लगनेसे मनुष्य जैसा देखना चाहता है वैसा देखता है, परंतु राग–द्वेषरहित निर्मल नेत्रोंसे देखनेपर तत्त्व यथार्थरूपमें दिखता है। हम मनमें पूर्वाग्रह लिये बैठे रहते हैं और उसी पूर्वाग्रहयुक्त नेत्रोंसे देखते हैं। यह पूर्वाग्रह मनसे निकालना चाहिये। हमारे मनमें जैसी धारणा बनी हुई है, उसीके अनुसार मन हमें वस्तुको दिखलाता है, यह मोहयुक्त दृष्टि है और धारणारहित निर्मल चित्तसे वस्तु जैसी होती है वैसी दीखती है। यह मोहरहित दृष्टि है। मोहयुक्त दृष्टि रहनेपर भगवान् दिखनेको कौन कहे भगवान्‌की कल्पना भी ठीकसे नहीं होती है।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

(गीता १८।५४)

तत्त्वतः मनुष्य तब देखता है, जब उसे भगवान्‌की पराभक्ति प्राप्त

होती है। भगवान्‌का जैसा स्वरूप है, वह भगवत्कृपासे ही भगवान् जब दिखाते हैं तब दिखता है। उसके पूर्व भगवान्‌की कल्पना, उनका अस्तित्व या उनकी स्थितिका विश्वास ही हो जाय तब भी बहुत कार्य हो जाता है। भगवान्‌के अस्तित्वको जो मानेगा वह छिपकर पाप नहीं करेगा, क्योंकि भगवान् सर्वत्र हैं, सर्वदा हैं। यह जानकर वह कब बेशर्मीसे पाप करेगा ? हम छिपकर पाप करते हैं, मानसिक पापकर्म भी करते हैं, मनमें नाना प्रकारकी दुरभिसंधि, नाना प्रकारके बुरे–बुरे भाव, बुरे–बुरे विचार हम रचते रहते हैं, जिसे और कोई नहीं लेकिन भगवान् तो देखते हैं। जब हमारा भगवान्‌पर विश्वास होगा, तब पाप नहीं करेंगे। क्योंकि भगवान् हैं और भगवान् सर्वत्र हैं, सर्वकालमें हैं, सर्वतश्चक्षु हैं, तो ऐसेमें बुरा कार्य करनेमें हमें लाज आयगी। भगवान्‌का अस्तित्व माननेपर निर्भयता आयगी और पाप होना बंद हो जायगा। हम अपनेको आस्तिक मानते हैं, लेकिन पूर्णतः ऐसा है नहीं, क्योंकि यदि आस्तिक होते तो छिपकर पाप नहीं करते। हम भूत–प्रेतकी कल्पना करके डर जाते हैं, लेकिन भगवान्‌का निश्चय करके निर्भय नहीं होते हैं। जबकि भगवान् सर्वत्र, सर्वदा हैं और भूत नहीं है। भगवान्‌का अस्तित्व माननेपर बहुतसे उपद्रव शान्त हो जाते हैं और पाप होना बंद हो जाता है।

मोह आँखोंपर एक घनी छाया ला देता है, जिसके कारण हम भगवान्‌को नहीं देखते हैं। यहाँतक कि यथार्थ लाभ–हानि भी नहीं देखते हैं। हम मोहयुक्त होकर राग–द्वेषके संचालनमें ही जीवन व्यतीत कर देते हैं। कभी रागकी वस्तु सामने आ गयी तो चित्त प्रसन्न हो जाता है और द्वेषकी वस्तु आ गयी तो चित्त खिन्न हो जाता है। इसी प्रकार कभी हर्ष, कभी उद्वेगका क्रम चलता रहता है। जगत्‌के जितने भी सुख हैं, वे दुःख–मिश्रित हैं। सुख–दुःखको लेकर यह जगत् द्वन्द्वात्मक है। सुख–दुःख, हानि–लाभ, जय–पराजय, मान–अपमान, निन्दा–स्तुति—यह द्वन्द्व निरन्तर एक साथ जगत्‌में रहते हैं। इसलिये या तो द्वन्द्वातीत हो जाय या दोनोंमें भगवान्‌को देखे। परंतु यह दृष्टि मोहके कारण नहीं आ पाती है। मोहके कारण ही हम विमोहित होकर दूसरेके मोहको देखकर हँसते हैं और अपनेको नहीं देख पाते तथा अपने कर्तव्यका ठीक–ठीक निश्चय नहीं कर पाते। यदि मोहसे निवृत्ति चाहें तो विश्वासपूर्वक कातर–हृदयसे भगवान्‌की प्रार्थना करें। निर्बलके बल राम हैं। जब किसी अन्य साधन विद्या, बुद्धि या

बलसे जहाँ कार्य नहीं होता हो तो जैसे दीन–हीन व्यक्ति निरुपाय होकर भगवान्‌को पुकारता है, वैसे ही हम दीन बनकर कातर–स्वरसे भगवान्‌को पुकारें कि—'प्रभो ! मुझसे मेरा मोह नाश नहीं होता, हम इससे निरन्तर बद्ध हैं। हम इससे ज्यों–ज्यों निकलना चाहते हैं, यह और जकड़ लेता है। मुझे इससे छुटकारा दिलायें।'

मनुष्य जब सांसारिक बुद्धि–कौशलसे संसारसे बचना चाहता है तो संसार और अधिक उसपर आता है। जैसे, यदि हम चोरोंसे घिरे हुए हों और चोर घरमें हों तथा चोरोंके बन्धु–बान्धव जो चोरोंसे मिलें हों, उनको हम अपना हितैषी मानकर चोरोंसे बचना चाहें तो वे आयँगे चोरोंसे बचानेवालोंके रूपमें, पर वे करेंगे क्या? इससे चोरोंका गिरोह और बलवान् हो जायगा और हम चोरोंसे और ग्रस्त हो जायँगे। इसी प्रकार सांसारिक बुद्धि–कौशलका सहारा लेकर जब हम संसारसे बचना चाहते हैं तो संसारमें और फँसते हैं। मनुष्यका मोह ही उसे कहीं कर्तव्य, कहीं नीति और कहीं धर्म बतलाता है। वह सारे सांसारिक बुद्धि–कौशलको सामने रखता है और प्रेरित करता है कि इनका आश्रय लो और इनका आश्रय ही आसुरी सम्पत्तिका आश्रय है। भगवान्‌का आश्रय न लेकर जागतिक बुद्धि–कौशलका आश्रय ही असुराश्रय है। जब मनुष्य आसुरी भावका आश्रय लेता है तो भगवान्‌की मोहनी माया उसके बुद्धि–कौशलको हर लेती है।

न मां दुष्कृतिनो मूढ़ाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः।।

(गीता ७। १५)

मोहग्रस्तका ही नाम मूढ़ है। साधकको निरन्तर सावधान रहना चाहिये कि वह अपेक्षित सांसारिक कार्य करे, परंतु सांसारिक बुद्धि–कौशलका आश्रय न लेकर भगवान्‌की ओर लगानेवाली वृत्तिका आश्रय ले। इसीको भगवान्‌का नित्य–स्मरण कहते हैं। भगवान्‌ने तो कहा है कि स्मरण करते हुए युद्ध करो। युद्ध अकेले करो, ऐसा नहीं कहा है।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जराजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।।

(गीता २। ३८)

साधककी मुख्य वृत्तिका विषय केवल भगवान् ही हैं। मुख्य वृत्ति केवल भगवान्‌को विषय करती है। अन्य कार्य केवल भगवान्‌की पूजाके

लिये हों तब ठीक है। साधकके अन्य कार्य गौण वृत्तिसे मुख्य वृत्तिकी रक्षा करता हुआ होनी चाहिये। जब वह सांसारिक वृत्तिको मुख्य वृत्तिका स्थान दे देता है, तब पतित हो जाता है। इसलिये सांसारिक वृत्तिवाले और साधककी दृष्टिमें एक मौलिक भेद रहता है। सांसारिक वृत्तिसे मनुष्य जगत्‌को ही प्रत्यक्ष सत्य मानता है। जगत्‌का हानि–लाभ, मान–अपमानं, सिद्धि–असिद्धि ही सत्य मानता है; क्योंकि जगत् उसके सामने है, परंतु साधककी मूल वृत्तिसे जगत् असत् है। वह जगत्‌की वृत्तियोंको देखता तो है, परंतु उसे भगवान्‌की लीलामात्र मानता है। 'न रूपमस्येह तथोपलभ्यते' (गीता १५। ३) जगत् जैसा दीखता है वैसा मिलता नहीं, यह जगत्‌का स्वरूप है।

जब मनुष्य मोहसे ढककर तमसाच्छन हो जाता है तो वह विपरीत दृष्टिवाला हो जाता है। पापसे, दुराग्रहसे, दुराचारसे हुए सांसारिक लाभको वह अपना लाभ मानता है। संसारमें बुद्धिमान् पुरुष जिसे लाभ नहीं मानते, उसको भी वह अपना लाभ मानता है। दृष्टि–भेदसे वस्तु–भेद होता है और वस्तु–भेदसे कार्य–भेद होता है। साधक और सांसारिककी दृष्टिमें दो मौलिक भेद रहते हैं—एक दैवी सम्पत्तिका और एक आसुरी सम्पत्तिका। एक भगवान्‌की ओर जानेवाले जीवनका और एक जगत्‌की ओर जानेवाले जीवनका। उनमें फिर अवान्तर भेद हो जाते हैं।

जिनकी दृष्टि भगवान्‌की ओर है, वह अपने जागतिक लाभ–हानिकी परवाह किये बिना अपनी मूल वृत्तिकी रक्षा करेगा, क्योंकि उसको उसीमें लाभ दीखता है। साधकको प्रथमतः सांसारिक लाभ–हानिसे अपनी दृष्टि ऊपर उठानी पड़ेगी। सासांरिक बुद्धि–कौशलका आश्रय छोड़ना पड़ेगा।

श्रीमद्भागवतमें भागवतोत्तम पुरुषोंके लक्षणमें बताया गया है कि वे त्रिभुवनका वैभव मिले और आधे लवके लिये भी भगवान्‌का विस्मरण हो, ऐसा नहीं चाहते हैं तथा त्रिभुवनका सुख–वैभव, स्वर्गका राज्य या मोक्ष मिलनेपर भी आधे लवके लिये भी भागवत पुरुषोंके संगसे अलग नहीं होना चाहते है—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्संगिसंगस्य मर्त्यानां किमुताशिषः।।

अर्थात् सासांरिक भोगोंकी बात ही नहीं, स्वर्ग और मोक्षका लाभ एक तरफ और भगवत्प्रेमीका संग एक लवके लिये हो तो भी इनकी कोई तुलना नहीं। भगवान् कहते हैं कि जो मेरे जन हैं, वे सालोक्य, सार्ष्टि, सायुज्य, सारूप्य एवं सामीप्य—इन पाँचों प्रकारकी मुक्ति मिलनेपर भी

(भागवतोत्तम पुरुष) भगवत्सेवा नहीं त्यागते । जबकि विषयी ऐसा नहीं कर सकता। यह साधक और विषयीका दृष्टिभेद है।

विषयी व्यक्ति जिसके सामने संसार है, वह जिसमें हानि–लाभ सोचता है, उससे दूसरे दृष्टिकोणवाला साधक उससे विपरीत समझता है।*

जिसकी चित्तवृत्तिका प्रवाह निरन्तर भगवान्‌की ओर है वह साधक है। वह इस प्रवाहमें रुकावट डालकर या मोड़कर संसारकी ओर नहीं करता है, चाहे सांसारिक लाभ–हानि जो भी हो। जबकि विषयी ऐसा नहीं कर पाता। यह साधक और विषयीका दृष्टिभेद है। हम विषयी हैं, हमें साधक बनना चाहिये और इसके लिये साधक–दृष्टिका होना आवश्यक है। साधक–दृष्टिमें जगत्‌से मुँह मोड़ना पड़ेगा। जगत्‌की ओरसे दृष्टि हटाये बिना हम साधनाके मार्गपर नहीं आते। साधन–पथपर चलनेमें पहले कष्ट होगा क्योंकि अभ्यास नहीं है। विषयोंमें लिप्त अपनी बुद्धिको जब हम भगवान्‌की ओर लगाना चाहें, तो बुद्धि घबड़ाती है। लेकिन ऐसा नहीं होना चाहिये, विषयी वृत्ति छोड़नेकी बात आनेपर यदि प्रसन्नता हो तो ठीक है, क्योंकि यही कसौटी है। जो सात्त्विक सुख आत्मबुद्धिके प्रसादसे प्राप्त होता है, वह पहले जहर–सा मालूम पड़ता है। परंतु वह है अमृत जो आगे आनन्द देता है। विषयप्रवण बुद्धि मीठी लगनेपर भी जहरका कार्य करती है और भगवान्‌में लगनेवाली बुद्धि पहले कड़वी लगनेपर भी अमृतका कार्य करती है। इस बातको समझकर जो विषयोंको जहर मानकर इनका त्याग करेंगे और त्यागमें दुःख होनेपर भी इसे सुख मानेंगे, जगत्‌से विपरीत बुद्धि करेंगे, वह साधककी श्रेणीमें आ सकते हैं। सांसारिक बुद्धि–कौशलसे संसारकी गाँठ कभी नहीं खुलती है। गाँठ खोलनेके लिये सांसारिक बुद्धि–कौशलसे मूर्ख होना पड़ेगा। संसारके हानि–लाभमें विपरीत बुद्धि करके, बिना किसी शर्तके भगवान्‌की कृपापर अपनेको छोड़कर, सर्वथा उनके आश्रित होकर, उनका स्मरण–भजन करनेपर, यह गाँठ अपने–आप खुल जायगी। जहाँ भगवान्‌से गाँठ लगती है, वहाँ संसारसे गाँठ अपने–आप छूटने लगती है। लेकिन ऐसा नहीं हो सकता कि सांसारिक गाँठके रहते भगवान्‌से भी सम्बन्ध हो जाय—

जहाँ राम तहाँ काम नहिं, जहाँ काम नहिं राम।
तुलसी कबहुँक रहि सके रवि रजनी एक ठौंम।।

हम ममताके बन्धनमें बँधे हैं तथा इस बन्धनको और मजबूत कर

रहे हैं। यदि हम साधककी श्रेणीमें आना चाहें तो जगत्‌के बन्धनसे मुक्त होनेकी यथार्थ इच्छा करनी पड़ेगी। यह बहुत दुर्लभ है। वेदान्तदर्शनके साधन–चतुष्टयमें आया है कि मुमुक्षुपना सहज नहीं है। इस हेतु सर्वप्रथम विवेक चाहिये, जिससे वैराग्यका उदय होता है। उससे सत्सम्पत्तिकी प्राप्ति होती है, तब मोक्षकी यथार्थ इच्छाका जागरण होता है। मोक्षके लिये मोक्षकी तीव्र इच्छाका स्फुरण आवश्यक है। लेकिन मोक्षकी तीव्र इच्छाका जागरण तब होता है जब छः प्रकारका धन आता है, जो संसारसे वैराग्य होनेपर ही होता है। वैराग्य होनेपर ही सम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा और समाधान––यह छः षट्सम्पत्ति प्राप्त होती है। इनके प्राप्त होते ही मोक्षकी इच्छा होगी। हम मोक्ष नहीं चाहते, चाहते हैं बन्धन तथा इसे और बढ़ाते हैं। साधक–श्रेणीमें भी नहीं हैं। साधक–श्रेणीमें आनेपर देर नहीं लगती है। मोक्ष और मोक्षकी इच्छा प्रायः समान समयमें ही होते हैं; क्योंकि मोक्ष, मोक्षकी इच्छासे ही होता है। जबकि जगत्‌का भोग इच्छासे नहीं होता है, इसमें कर्मकी अपेक्षा है। जब कर्म होगा तब भोग प्राप्त होगा। भगवान्‌की प्राप्ति मोक्षकी प्राप्ति, यह अज्ञानजनित है, पर दीखती नहीं। इच्छा हुई नहीं कि दीखने लग जाती है। मोक्षकी इच्छा हो और मोक्ष न मिले, भगवान्‌की प्राप्तिकी तीव्र इच्छा जाग उठे और भगवान् न मिलें, यह सम्भव नहीं है। हममें साधकपना है ही नहीं, सिर्फ दम्भ करते हैं, दिखावा करते हैं। सच्चे साधक बने तो उसका क्रम है दीखे ठीक। जगत् जब असत्य दीखेगा तो अपने–आप इससे वैराग्य होगा। जब इहलोक और परलोकके भोगोंसे वैराग्य हो जाता है तो अपने–आप छः सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है। मन और इन्द्रियाँ निगृहीत हो जायँगी। सहनशीलता आ जायगी। सम, दम, तितिक्षा और उपरति आयगी, भोग सामने रहनेपर भी भोगोंमें मन नहीं जायगा। उपरतिके बाद श्रद्धा आयेगी और सभी शंकाओंका समाधान हो जायगा। तब मोक्षकी इच्छा जागेगी और मोक्षकी इच्छा जागी नहीं कि मोक्ष प्राप्त हो जायगा। इसलिये हमें सच्चा साधक, सच्चा भक्त बनना चाहिये।

———०———
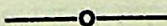
होहिं रामको'

जबतक मनुष्य विषयोंका गुलाम बना हुआ है तबतक वह न परोपकार कर सकता है, न गरीबकी सेवा कर सकता है और न भगवान्‌की भक्ति ही कर सकता है। क्योंकि जहाँ-जहाँ उसकी दृष्टि जाती है, वहाँ-वहाँ उसका मन पहले अपने लाभकी बात सोचता है। चूँकि दृष्टि विषयासक्त है, इसलिये विषयोंकी प्राप्तिमें लाभ दीखता है। नहीं तो जो लाभ दूसरोंकी सेवा करनेमें है, दूसरेके लिये त्याग करनेमें है, वह भोगोंकी प्राप्तिमें है ही नहीं। हमारी बुद्धिके भ्रमसे हमें त्यागमें नुकसान और भोगकी प्राप्तिमें लाभ प्रतीत होता है। यदि हमारे पास धन आ जाय तो लाभ और किसी गरीबके दुःख दूर करनेमें हमारा धन लग जाय तो हमें हानि प्रतीत होती है। ऐसा इसलिये होता है कि हमारी बुद्धि विषयासक्त है। हममें अधिकांश विषयोंके गुलाम हुए, भगवान्‌के नहीं हुए। जो सौ रुपये कमाता है वह हजारवालेकी ओर देखता है तो अपनेको नौ सौके घाटेमें पाता है, परंतु यदि वह दस रुपयेवालेकी ओर देखे तो अपनेको नब्बे रुपयेके लाभमें पायेगा। उसमेंसे दस रुपये बचाकर जो कष्टमें है उनको कुछ राहत दे सकता है। यह बड़ा अच्छा भाव है। पर ऐसा प्रायः होता नहीं है, क्योंकि हमारा जो मन है वह भगवानका नहीं हुआ। विषयोंका होकर है तथा इससे परोपकार, देश-सेवा, समाज-सेवा, लोक-सेवा और भगवत्सेवा नहीं हो सकती। जबतक हमारा मन विषयोंका गुलाम है, हम विषयोंमें आसक्त हैं, तबतक हम किसीकी सेवा नहीं कर सकते। जहाँ भी हम सेवा करने जायँगे, वहीं हमारा मन यह देखेगा कि इससे तो भोग-प्राप्तिमें नुकसान है। बस, सारी सेवा बंद हो गयी। आजकल लोगोंका लक्ष्य ही होता है कि सेवा भी एक व्यापार है। सेवासे भी विषयोंकी प्राप्ति हम कर सकते हैं—नाम-यशकी प्राप्ति, धनकी प्राप्ति और अधिकारकी प्राप्ति जो विषय ही है। जबतक हम भगवान्‌के नहीं हो पाते, तबतक यह भावना मिटती नहीं है।

यदि हम अपने जीवनका उत्थान चाहें, प्रगति चाहें तो हमें त्याग करना पड़ेगा। सांसारिक उन्नति भी बिना त्यागके नहीं होती है। त्याग हमारे अंदर तबतक नहीं आ सकता, जबतक भोग-वासना बनी हुयी है और हम विषयोंका दासत्व छोड़कर भगवान्‌के दास नहीं हो जाते। इसकी कसौटी वहाँ होती है, जब हमें विषय और भगवान्‌मेंसे एकका चुनाव करना

पड़े। विषयको छोड़ते हैं या भगवान्‌को ? एक तरफ सत्य जा रहा हो, जो भगवान्‌को प्रिय है और एक तरफ धन जा रहा हो; एक तरफ किसीसे वैर हो रहा हो और एक तरफ मान मिल रहा हो जो भगवान्‌को अप्रिय है। वहाँ हम मान और धन चाहेंगे अथवा भगवान्‌की प्रियताके लिये सत्य और निर्वैरता ? यह कसौटी है। इसीसे पता चल जाता है कि हम किसके दास हैं। यह प्रश्न महाराज हरिश्चन्द्रके सामने आया तो उन्होंने सत्यके लिये राज्यको त्याग दिया और अपनेको डोमके हाथों बेच दिया। यहाँतक कि अपनी महारानी शैव्याको जो राजमहलमें रहती थीं, उनको भी सत्यकी रक्षाके लिये बेच दिया। परिणामतः उनको उसी जन्ममें भगवान्‌की प्राप्ति हो गयी। उनका राजकुमार रोहिताश्व वह कहाँ बिकता ! बेचारा माँके साथ गया, वह भी खरीददारकी मेहरबानीपर। बादमें बच्चेकी साँप काटनेसे मृत्यु हो गयी। और अभी कुछ दिन पहले जो राजरानी थीं, उनके पास बच्चेके लिये कफन भी नहीं। तनपर फटी साड़ीके अलावा कोई वस्त्र नहीं, खानेके लिये मालिकके यहाँसे प्राप्त रूखे–सूखे अन्नके अलावा कोई सामान नहीं, उनके पास रुपये नहीं, जिनसे बाजारसे कोई वस्तु खरीद सकें। इसलिये उन्होंने अपनी साड़ीको फाड़कर लड़केका कफन बनाया और स्वयं लेकर श्मशान–घाट पहुँची, जहाँपर हरिश्चन्द्र अपने डोम मालिक द्वारा कर वसूलने हेतु नियुक्त थे। वहीं हरिश्चन्द्रके सामने उन्हींके बच्चेकी लाश लेकर उन्हींकी पत्नी जाती हैं। इसपर हरिश्चन्द्र कहते हैं—बिना कर दिये तुम शव जला नहीं सकती। हरिश्चन्द्र बच्चेकी लाश और रानीको पहचान गये, फिर भी अपने सत्यव्रतपर दृढ़ रहे। रानीने रोकर कहा—स्वामी ! मेरे पास कपड़ातक नहीं है कहाँसे कर चुकाऊँ ? इसपर हरिश्चन्द्रने कहा—इस समय मैं तुम्हारा पति नहीं, रोहिताश्वका पिता नहीं, मैं तो डोम सरदारका एक कर्मचारी हूँ। और कोई नहीं तो भगवान् सर्वत्र हैं, वे सब देखते हैं, मैं बिना कर लिये जलाने नहीं दूँगा। रानी फूट–फूटकर रोने लगीं, कारण—राज्य था नहीं, इकलौता राजकुमार भी मर गया, नौकर रहकर जीवन व्यतीत कर रहीं थीं। पतिको नहीं कह सकती थीं कि आप अपना धर्म त्याग दें। बड़ा ही कारुणिक दृश्य था। दूर खड़े विश्वामित्र भी रो पड़े। कितना कठोर कार्य था ! लेकिन व्रतकी परीक्षा तभी होती है जब एकान्तमें भी आदमी उस व्रतपर दृढ़ रहे। हरिश्चन्द्र दृढ़ रहे। उनकी आँखोंमें आँसूतक नहीं आये, उन्होंने कहा—मेरे पास कटार है, इससे कफन

चीरकर ही उसका एक भाग 'कर'के रूपमें अदा करो। उस कटारसे ज्यों ही चीरनेको तैयार हुए, त्यों ही भगवान् प्रकट हो गये। विश्वामित्र, इन्द्र और धर्म भी आ गये और बोले—राजन् ! बस, हो गया ! बहुत कठिन परीक्षा हो गयी। यह है—'होहिं रामको।'

अतएव त्यागमें जो लाभ है वह भोग प्राप्तिमें नहीं। भोगकी प्राप्तिमें जो हमें शुरू-शुरूमें लाभ प्रतीत होता है, वस्तुतः वह विषभरी मिठाई-सदृश परिणाममें प्राणघातक ही है। और त्यागका परिणाम कितना सुन्दर कि इससे भगवत्प्राप्ति हो जाती है ! जैसे उपर्युक्त उदाहरणमें महाराज हरिश्चन्द्रको पुनः राज्य वापस मिल गया, बेटा जीवित हो गया और भगवान् भी मिल गये। परंतु जहाँ भोग-दृष्टि है, जहाँ तनमें भोगकी अभिलाषा है, जहाँ हम भोगोंके गुलाम हैं, विषयासक्त हैं, वहाँ एक तरफ भोग आयेगा और एक ओर भगवान् होंगे। तब भोगोंको चाहनेपर भगवान्‌को छोड़ना पड़ेगा। श्रीमद्भागवतके ग्यारहवें स्कन्धमें जहाँ भागवतोत्तम पुरुषोंका लक्षण बताया गया है, वहाँ कहा गया है कि त्रिभुवनका वैभव मिले और बदलेमें आधे लव (पलक झपकनेमें लगे समयका आधा समय)—के लिये भगवान्‌का विस्मरण हो; ऐसा भक्त नहीं चाहते हैं। भक्त चाहते हैं कि त्रिभुवन-वैभव भले ही न मिले, हम भगवान्‌को नहीं छोड़ सकते। ऐसी निष्ठा ही सिद्ध करती है कि हम भगवान्‌के हैं। परंतु जहाँ हम विषयासक्त हैं, वहाँ पग-पगपर पाप होता है और उस पापमें हमें भोग-सुखकी प्रतीति होती है। यह बहुत सोचने-समझनेका विषय है कि हमारे पास जो धन-सम्पत्ति है, इसमेंसे हमारे साथ क्या जायगा ? यह सब मृत्युपूर्व भी नाश हो सकता है, आग लग सकती है, चोर-डाकू ले जा सकते हैं, सरकार टैक्स लगाकर ले सकती है, बाढ़, भूकम्प-जैसे प्राकृतिक प्रकोप हो सकते हैं। हमारे सुख-सम्पत्तिके नाशके नाना प्रकार हैं। अन्ततः यह सभी छूटना ही है, पर उसमें हमारा इतना मोह है कि उसके लिये हम भगवान्‌को भूल जाते हैं और पापको स्वीकार करके उस वस्तुको प्राप्त करते हैं। कारण—हम आसुरभावापन्न हैं।

हम जो कर्म करते हैं वह या तो भोगकी प्रेरणासे या भगवत्प्रेमकी प्रेरणासे। यदि हमारे कर्ममें हेतु भगवत्प्रीति है तो वह कर्म पूजा माना जायगा और उस कर्मसे किसीका अहित नहीं होगा तथा बिना सेवा किये सेवा होगी। जहाँ हमारा सबके प्रति भगवद्भाव होगा, वहाँ न तो किसीसे वैर

होगा, न विरोध। इससे स्वभावतः ऐसे कर्म होंगे जिनसे किसीका अहित न होता हो और उसकी वृत्ति अपने–आप भगवान्‌के प्रिय कार्योंकी ओर हो जायगी। दृष्टिमें परिवर्तन हो जायगा। जैसे एकान्तमें अर्जुनके पास उर्वशी जाती है तो अर्जुन कहते हैं—जैसे शची, माद्री और कुन्ती मेरी माँ हैं, उसी प्रकार तुम भी मातृवत् हो। यह भगवान्‌का होना है। अपने धर्म–हेतु, सत्य–हेतु, भगवत्प्राप्ति–कार्यहेतु भोगोंका इस प्रकार परित्याग करना मानो उनका कोई मूल्य ही नहीं। मूल्य मानकर त्याग करनेमें तो विषयोंकी महत्ता विद्यमान रहती है। यह सर्वदा ध्यानमें रखनेकी बात है कि भगवत्प्रीति मनमें उत्पन्न हो जानेपर विषयोंका मूल्य नहीं रहता है। विषयोंका परित्याग होनेपर मनमें त्यागका अभिमान भी नहीं होता है।

साधारणतः किसी वस्तुके छूटनेपर दो स्थिति होती हैं। पहली यदि उस वस्तुमें ममता है, आसक्ति है तो दुःख होता है, क्रोध होता है, विवाद होता है। और दूसरी यदि किसीको कुछ दे देते हैं तो अभिमान होता है कि हम कितने उदार हैं ! भले ही व्यक्त न करे लेकिन मनमें भाव आ जाता है। जहाँ अभिमान है, दुःख है, वहाँ स्वाभाविक रूपसे वस्तुकी महत्ता है। परंतु जहाँ भगवान्‌के सामने वस्तुका कोई मूल्य नहीं, वहाँ इसके जानेमें न तो कोई दुःख होगा, न देनेपर अभिमान और न तो इसकी स्मृति ही रहेगी। जहाँ वस्तुकी महत्ताका भाव मनमें आया, वहाँ यह सिद्ध होता है कि वस्तुकी गुलामी हमारे मनमें बनी हुई है। इसपर मेरा अधिकार नहीं है। यदि अधिकार हो तो न इसके देनेपर अभिमान होगा, न खो जानेका दुःख। यह गुलामी भगवान्‌का होनेपर ही छूट पाती है और इसके छूटनेपर ही भगवान्‌के होते हैं—

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः।।

(गीता १२। १९)

चाहे कोई निन्दा करे—दोष बताये, चाहे स्तुति करे दोनोंमें समभाव हो, मन भगवान्‌में लगाकर मौन हो, किसी भी अवस्थामें मन संतुष्ट हो, रहनेके स्थानमें ममता–आसक्तिरहित हो—ऐसे स्थिरबुद्धि भक्तिमान् पुरुष भगवान्‌को प्रिय होते हैं किसी भी अवस्थामें मन संतुष्ट रहनेपर वस्तुके आने–जानेमें, मान–अपमानमें, शुभ–अशुभमें कोई त्रुटि नहीं होती है। संतुष्टिमात्र भगवान्‌में होती है। जिनका मन भगवान्‌में संतुष्ट है, वे

नित्य उन्हींमें रमण करते हैं—'तुष्यन्ति च रमन्ति च।' (गीता १०। ९) और उनके पास जो वस्तुएँ होती हैं, उनका उपयोग भगवान्‌की सेवा-भावनासे करता है, उनकी रक्षा करता है। यदि वह वस्तु चली गयी तो ज्ञानके साधकको तो कुछ नहीं होगा, परंतु यदि भक्तिका साधक है तो मानेगा कि भगवान्‌की सेवा बन गयी। भगवान् अपनी वस्तु ले गये—

'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।'

भगवन्! आपकी ही वस्तु आपने अपने कार्यमें ले ली। मुझे निमित्त बनाया। हमने नहीं दिया। 'मया तुभ्यं समर्पये' मेरेद्वारा आपको समर्पित हुई। मैं मालिक नहीं। मालिक आप, मैं आपका सेवक। भावना बदल जायगी। घरमें भी आप मालिकसे मैनेजर (प्रबन्धक) बन जाइये। बहुत-सी परेशानियाँ तत्काल मिट जायँगी। मालिकी उतरते ही ममता, अहंकार, आसक्ति मिटने लगेगी। फिर जबतक नौकर हैं, सिर्फ सँभालनेका कार्य रहा, ईमानदारीसे सेवा करनेका रहा, अपनत्व नहीं रहा। इसलिये भगवान्‌ने कहा—जो तुम्हारे पास है वह मेरा बना दो। है तो मेरा ही तुमने मिथ्या ही अपना मान रखा है। नारदभक्तिसूत्र (१९)-में आया है—

'तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति।।'

अर्थात् देवर्षि नारदके मतमें अपने सब कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण करना और भगवान्‌का थोड़ा-सा भी विस्मरण होनेमें परम व्याकुल होना ही भक्ति है। भगवान्‌का थोड़ा भी विस्मरण होनेपर चित्त परम व्याकुल हो जाय। यह तभी होता है, जब भगवान्‌के हो जायँ और इसके लिये निम्नलिख़ित तीन उपाय करना चाहिये—

(१) बुद्धिसे बार-बार निश्चय करें कि हम भगवान्‌के हैं। भोगोंके नहीं। पहले भूल होगी पर सावधानी रखें।

(२) मनमें मालिककी क्रिया न करके सेवककी क्रिया करें। कार्य वही पर भाव सेवकका हो।

(३) यह सर्वदा ध्यान रखें कि विषयोंकी आसक्ति, उनमें ममता या उनकी कामना कहीं हमसे भगवान्‌का अप्रिय कार्य तो नहीं करा रही है।

उपर्युक्त बातें जब ध्यानमें रहेंगी तो झूठ बोलनेमें, छल-कपट करनेमें, हिंसा-वैर करनेमें, घृणा करनेमें, किसीका बुरा करनेमें हमारा मन हिचकेगा कि यह तो भगवान्‌का अप्रिय कार्य है। उत्साह तो होगा नहीं, रुकावट अवश्य होगी और उसमें डर लगेगा कि यह काम कैसे करें, यह तो

भगवान्‌का विरोधी कार्य है। इस प्रकारकी हमारी वृत्ति होगी स्वाभाविक रूपसे। तब हमारे द्वारा जान–बूझकर किसीका अहित नहीं होगा और हमारी बुद्धि निरन्तर सेवा करनेवाली बनेगी। यह लोक–सेवा, समाज–सेवा, धर्म–सेवा, ईश्वर–सेवा, जाति–सेवा, राष्ट्र–सेवा तबतक नहीं हो सकती, जबतक हम विषयोंके सेवक हैं; क्योंकि जहाँ–जहाँ हम वह कार्य करेंगे, वहाँ–वहाँ हमारे मनको विषय आकर्षित कर लेगा।

स्वभावतः हमारी बुद्धि अपने पास जो नहीं है उसीकी ओर आकर्षित होती है। जैसे—अगर एक व्यक्तिके पास लाख रुपये हैं और दूसरेके पास दस रुपये हैं तो लाखवाला दूसरेकी ओर न देखकर करोड़वालेको देखता है और निरन्तर अपनेको घाटेमें पाता है तथा वैसा ही बननेकी कामना करता है। जो अपनेको घाटेमें देखेगा वह दूसरेकी सेवा क्या करेगा? परंतु यदि लाखवाला अपनेसे नीचे देखे और सोचे कि ऐसे लोग भी हैं, जिनके पास दस रुपये भी नहीं हैं और वे लोग भी हमारे–जैसे ही हैं, ऐसे ही हाथ–पैर, ऐसे ही मन–इन्द्रियाँ, ऐसे ही घरवालोंकी स्नेह–ममता है तो स्वाभाविक रूपसे उसकी इच्छा होगी कि जिनके पास नहीं है, कुछ उनको बाँट दें। बाँटनेमें सुख होगा, अभिमान या दुःख नहीं होगा। ऐसे स्वभावके व्यक्ति समाजमें हैं, जो इस भावसे सेवा करते हैं। यह वृत्ति होनी चाहिये कि जो वस्तु हमारे पास है उससे, जिसके पास वह वस्तु नहीं है, उसकी कुछ सेवा हो जाय। ऐसा तभी होगा जब ऐसा करनेसे हमें आनन्दकी अनुभूति होगी, जो उस वस्तुके दासत्वका कारण नहीं होता। वस्तुके गुलाम होनेपर मृत्युपर्यन्त संग्रह करेंगे, चाहे संग्रह करके यहीं छोड़ जायँ।

धनकी तीन गति मानी गयी हैं। प्रथम, दान कर दिया, जिसे सात्त्विक गति कहते हैं। द्वितीय, उसका भोग कर लिया, जिसे राजस गति और तृतीय, रखे–रखे नष्ट हो गयी, इसे तामस गति करते हैं। संसारके प्रत्येक पदार्थकी—शरीर, वाणी, धन और विद्या—सभीकी तीन गति होती है। पहली, या तो वह वस्तु जिसके पास नहीं है उनमें वितरित कर दें, यह सर्वोत्तम है। दूसरी, अच्छे भावसे उपभोग कर लें और इन दोनोंके न होनेपर उसका नाश निश्चित है। जो वस्तु हमारे पास है उसे छोड़कर या तो हम पहले मर जायँगे या वस्तु नष्ट हो जायगी। उससे वियोग सुनिश्चित है। उस वस्तुसे वियोग होनेका डर हमेशा बना रहेगा। जिससे मन कलुषित होता रहेगा।

इसलिये जो वस्तु हमें मिली है उसे भगवान्ने इस हेतुसे दी है कि इसको सँभालो और जहाँ मेरी सेवाकी आवश्यकता हो वहाँ इसका उपयोग कर लो। यदि हम बुद्धि, विद्या, धन, स्वास्थ्य, शरीर और इन्द्रियाँ सभी पदार्थ भगवान्की सेवामें लगाते हैं तब पूरे भगवान्के हैं। कम लगाते हैं तो कम भगवान्के हैं और यदि नहीं लगाते हैं तो भगवान्का नाम लेनेपर भी हम विषयोंके हैं। यदि हम भगवान्की पूजा सकामभावसे करें तो भी न करनेसे तो अच्छा ही है। परंतु सकामभावसे करनेपर पूजाके आरम्भसे लेकर समाप्तितक हमारा मन भगवान्को भूला रहता है और भोगको ढूँढ़ता है। परंतु भगवान् दया करके अपनी पूजा मान लेते हैं। यह उनकी कृपा है। हम तो पूजा उस भोगकी करते हैं न कि भगवान्की। इसलिये अनुकूल कामनाकी प्राप्ति न होनेपर हम भगवान्को कोसते भी हैं कि हमने इतनी पूजा की, आराधना की, परंतु भगवान्ने हमारी बात नहीं सुनी। यह जो पूजा की; भगवान्से काम करानेके लिये, उचित तो यह था कि हम पूजा करते रहते और फलकी प्राप्ति उनकी इच्छापर छोड़ देते। भगवान्की इच्छापर नहीं छोड़ते तो भक्त कैसा ? तुम तो मालिक बन बैठे और भगवान्को कार्य करनेके लिये नौकरीपर रखे, पूजाके बदले कि हमारा यह कार्य कर दें तो इतना प्रसाद चढ़ायेंगे, नहीं तो नहीं। हमारे यहाँ देवाराधनाका शास्त्रीय तरीका है और यदि यह सम्यक् प्रकारसे पूर्ण हो जाय तब उसका फल उत्तम होगा—

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा।।

(गीता ४। १२)

जो मनुष्य जल्दी संसारमें नया प्रारब्ध बनाना चाहते हैं, उन्हें चाहिये कि देवताकी सम्यक् प्रकारसे आराधना करें। इसके बाद उन्हें सिद्धि प्राप्त हो सकती है। यह शास्त्रीय तरीका है और हम कहते हैं कि हनुमान्जी आप हमारा अमुक कार्य कर दें तो हम इतने रुपयेका प्रसाद चढ़ायेंगे। यह पूजाका वास्तविक रूप न होकर व्यापार है, वह भी लेन—देनमें अविश्वासके साथ। इसकी निन्दाका यह अर्थ नहीं कि लोग प्रसाद बाँटनेका संकल्प न लें, अपितु अच्छा यह है कि प्रसाद पहले बाँट दें और बादमें प्रार्थना करें कि भगवन्! हमने प्रसाद इसलिये दिया कि अमुक कामनाकी पूर्ति आप कर दें। वस्तुतः यह अनोखी बात है कि फल पहले प्राप्त हो और

कर्म बादमें करें। यह तो कर्मके सिद्धान्तके विपरीत है।

पहले कारण बनता है, कार्य बादमें होता है, यह सिद्धान्तकी बात है और तर्कसंगत भी है। परंतु यहाँ पहले कार्य करायेंगे, तब उसका कारण पैदा करेंगे। पहले फल मिले पीछे उसका कारण। इसीलिये अधिकतर मामलोंमें सिद्धि प्राप्त नहीं होती है। सकाम उपासनामें जो सौम्य देवता हैं वे तो मान लेते हैं, परंतु जो क्रूर देवता हैं वे सहजमें नहीं छोड़ते, ऐसी चपत लगाते हैं कि अगली योनियोंतक याद करते हैं। यदि हम किसीकी इच्छाके विरुद्ध कार्य करायें तो जो सीधा–सरल व्यक्ति होता है वह तो मान लेता है, पर अगर तेज हुआ तो दुःख मानता है और सोचता है कि यह बाँधकर जबर्दस्ती कार्य ले रहा है। इस सकाम उपासनासे और मन्त्रोंके द्वारा देवताओंका बन्धन होता है। देवता बन्धन तभी स्वीकार करते हैं, जब उनके लिये पूरी–पूरी श्रद्धा–भाव और विधियुक्त कार्य हो। इन तीनोंमें किसी एककी कमीसे देवता कार्य सिद्ध कर सकते हैं पर नाराज होते हैं, क्योंकि उन्हें नया कारण पैदा करना पड़ता है। एक व्यक्तिके प्रारब्धको बदलना पड़ता है।

हम प्रारब्धको न स्वीकार करके विषयोंकी गुलामीवश सत्यका आचरण करनेमें हिचकते हैं। यदि सभी सत्यका आचरण करने लगें तो सारे कार्य ठीक हो जायँ। परंतु हम चाहते हैं कि हम गलत कार्य करें और बाकी सभी सत्यवादी हो जायँ। सत्यवादी कोई नहीं बनना चाहता है, इसलिये सभी जैसे–के–तैसे बने रहते हैं। इसका मतलब है हम मौतको भूले हुए हैं। मोहमयी प्रमाद–मदिराको पीकर जगत् उन्मत्त हो रहा है। हमारी विषयासक्ति अहर्निश भगवत्–विरोधी कार्य करा रही है और उससे बुरी बात यह कि आज हम उसमें गौरव मानने लगे हैं। मनुष्यकी जबतक पापमें पाप–बुद्धि, बुराईमें बुराई–बुद्धि है, तबतक उसके द्वारा पाप–कर्म होनेपर एक शूल–सी चुभती है, परंतु जब पापकर्ममें गौरवकी प्रतीति होती है कि हमने यह कार्य कर लिया और मूर्ख लोग रह गये तो पाप–बुद्धि रहती नहीं और अन्तरात्मा जो शुद्धिकी आवाज देती है वह क्षीण हो जाती है तथा होते–होते उलटी आवाज हमारी विपरीत–बुद्धि देने लगती है कि यह चोरी ही ठीक है, यह भगवान्‌का विरोधी कार्य ही ठीक है। यह दशा हमारी और हमारे समाजकी है।

आज सारा संसार चाहे जितनी भौतिक प्रगति कर ले, परंतु जबतक हमारा मन विषयोंका दास है, काम, क्रोध, लोभ, हिंसा और द्वेष हमारे जीवनके साथी हैं, तबतक उन्नति नहीं होगी, सुख नहीं होगा। यह

निश्चित है कि बुरेका परिणाम अच्छा नहीं होता है। तो यह जो उन्नति है वह वास्तवमें अवनति ही है। जितना कलह, द्वेष, वैर आज है, उतना पूर्वकालमें नहीं था और इसके परिणाममें हम सुख–शान्ति चाहते हैं। इस कलह, द्वेष और वैरके मूलमें भोग–बाहुल्य और भोगासक्ति ही है। भगवान्ने गीतामें कहा है—

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ।।

(१६ । १६)

अर्थात् जो लोग काम और भोगमें आसक्त हैं, वे अन्यायपूर्वक जीवन चलानेको बाध्य होंगे और उन्हें अनन्त दुःखोंका सामना करना पड़ेगा तथा वे नरकमें—दुःखके लोकमें जायँगे।

मनमें जबतक दैवी सम्पत्तिका उदय नहीं होता और हम बुराईका त्याग करनेका दृढ़ निश्चय करके उसे त्यागते नहीं तथा भलाईको ग्रहण नहीं करते, तबतक हजार आदतों और असफलताओंको सिर चढ़ाये रहेंगे। जब यह निश्चय हो जाता है कि अपने दैवी सम्पत्तिको—उच्च चरित्रको नहीं छोड़ेंगे, भले ही तबाह हो जायँ, तो वह तबाह नहीं होता, उसे भगवान् बचाते हैं, परंतु जब विषयोंके प्रलोभनमें भलाई छोड़ देगा तो उसका कभी भला नहीं हो सकता। इसलिये हमें चाहिये कि विषयोंकी गुलामी छोड़कर भगवान्के दास बन जायँ। इससे तीन परिवर्तन होंगे। भगवान्की सेवामें हमारा मन रहेगा, भगवान्के गुण हमारे अंदर आयेंगे और भगवान् हमारी रक्षा करेंगे। मनसे भगवान्के दास बन जायँ और प्रार्थना करें, विचार करें तथा निश्चय कर लें कि हम उनके दास हैं। क्रियामें कोई भी कार्य ऐसा है जो भगवत्प्रीतिके प्रतिकूल है तो वहाँसे हट जायँ और हानि देखें तो उसे विवेक–बुद्धिके साथ सहन कर लें तथा भगवद्विधानमें विश्वासी बन जायँ।

श्रीमद्भागवतमें ब्रह्माजीके द्वारा भगवान्की स्तुतिमें कहा गया है—

तावद् रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः।।

(१० । १४ । ३६)

(ब्रह्माजीने कहा—हे प्रभो !) जबतक मनुष्य तुम्हारा नहीं हो जाता, तबतक राग–द्वेषरूपी चोर पीछे लगे रहेंगे, मोहकी डोरी पैरोंमें पड़ी रहेगी और घर कैदखाना रहेगा, परंतु तुम्हारा होते ही नाम भी होगा, घर

कैदखाना न होकर मन्दिर हो जायगा। हमारी क्रियाएँ राग–द्वेषरहित होकर भगवान्‌की पूजा बन जायँगी तथा मनमें ममता, आसक्तिको लेकर जो बेड़ी पड़ी है वह टूट जायगी। भगवान्‌का होनेके लिये कोई वस्त्र नहीं बदलना है, नया स्वाँग नहीं करना है, नया नाम नहीं करना है, जैसे हैं वैसे रहें। केवल मनके भाव बदलने हैं कि हम आजसे उनके दास हो गये। उनके हाथ हमने अपने–आपको समर्पित कर दिया। ऐसा अनुभव करनेपर पाप–भोग पास नहीं आयेगा और उनकी सेवाके अलावा कार्य नहीं रहेगा। फिर आनन्द–ही–आनन्द होगा। अन्यथा विषयासक्त होनेपर तो संसारमें दुःख–ही–दुःख है। जैसे वस्त्रालय, अनाथालय, विद्यालय नाम हैं, उसी प्रकार भगवान्‌ने संसारका नाम दुःखालय रखा है—

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः।।

(गीता ८। १५)

जहाँ हम भगवान्‌के हो गये, वहाँ दुःखका आत्यन्तिक अभाव हो गया। जगत्‌की परिस्थिति कुछ भी रहे, हम निरन्तर आनन्दका अनुभव करेंगे। उस समय हमारा सम्पर्क आनन्दमय भगवान्‌के साथ हो जायगा। उपनिषद्‌में आया है कि जब रसकी प्राप्ति हो जाती है तो मनुष्यको आनन्दकी प्राप्ति हो जाती है, क्योंकि इसकी उत्पत्ति आनन्दसे है, इसका पर्यवसान आनन्दमें है। इसने आनन्दको छोड़कर दुःखको अपना लिया, इसलिये यह सच्चिदानन्दघन होते हुए भी मर गया—मरणशील हो गया, दुःखी हो गया, अशान्त बन गया। दुःख और मृत्यु यह हमारी आत्माका स्वरूप नहीं है, यह आगन्तुक वस्तु है। हम चाहें तो इसे उतारकर फेंक दें। जैसे थे वैसे हो जायँ। यह आत्मानुभूति, यह भगवान्‌का हो जाना ही जीवनका वास्तविक रहस्य है। यही सार है और हम सबको यही करना है। इसमें जितनी देर हो रही है उतना ही जीवनका मूल्यवान् भाग नष्ट हो रहा है, बड़ी हानि हो रही हैं। इससे हमें सावधान रहना चाहिये और इस हानिसे हम बचें। जीवन क्षणभंगुर है, इसलिये हमें चाहिये कि अविलम्ब हम 'होहिं रामको'।

—o—

'हमेशा आगे कैसे बढ़ें'

इन्द्रियोंकी गुलामी मनुष्यकी सबसे बड़ी गुलामी है। यह जो हमारी पञ्चेन्द्रियाँ हैं—आँख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा तथा इनके पाँच ही विषय हैं—रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श। जगत्में यह केवल पाँच ही विषय हैं और हम सब इन्हीं पाँचों विषयोंमें फँसे हुए हैं। मनुष्य अपनेको स्वतन्त्र मानता है, परंतु वह होता है इन्द्रियोंका गुलाम, विशेषकर आजके युगमें जहाँ व्यक्ति-स्वातन्त्र्यका बड़ा महत्त्व है। मनुष्य कहता है कि किसी शास्त्रकी बात, किसी मनुष्यकी बात, किसी महात्माकी बात, किसी ग्रन्थकी बात, किसी आचार्यकी बात क्यों मानें ? क्या मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ ? मनुष्य आज अपने स्वातन्त्र्यकी घोषणा करता है तथा कहता है कि मैं स्वतन्त्र हूँ और जो चाहे कर सकता हूँ। परंतु जबतक मनुष्य इन्द्रियोंका गुलाम और मनका गुलाम है, तबतक वह स्वतन्त्र है ही नहीं।

स्वामी श्रीशंकराचार्यजीका एक छोटा-सा ग्रन्थ है—'प्रश्नोत्तरी'। इसमें बड़े-बड़े प्रश्नोंका सूत्ररूपमें, संक्षेपमें उत्तर दिया है। इसमें प्रश्न है—'जितं जगत्केन' (११) अर्थात् जगत्को किसने जीता ? उत्तर है 'मनो हि येन' अर्थात् जिसने मनको जीता, जिसने मनपर विजय प्राप्त कर ली। बड़े-बड़े देशोंको जीत लेनेवाले पुरुष भी विजयी नहीं हैं, जबतक कि वे इन्द्रियोंके वशमें हैं। मामूलीसे किसी इन्द्रियके विषय-सुखके वशीभूत होकर वे अपने-आपका पतन कर लेते हैं। इसलिये हमारी सबसे बड़ी गुलामी इन्द्रियोंकी है। शरीरकी गुलामी जो है वह भी गुलामी है, परंतु वह इतनी मारक नहीं है, जितनी इन्द्रियों एवं मनकी गुलामी।

एक समय मुम्बईमें एक वृद्ध महात्मा मेरे पास आये। वे बहुत बड़े विद्वान् तथा इतने बड़े पण्डित थे कि बड़े-बड़े तार्किक उनके पास आते और जब उनको अपने प्रश्नका उत्तर मिल जाता तो उन्हें चुप हो जाना पड़ता। परंतु उनमें एक कमी मैंने देखी कि वे जीभके इतने अधिक वशमें थे कि वे मिनट-मिनटमें कहा करते कि भइया जलेबी मँगवाओ, जलेबी मँगाके दी तो कहते कि भाई रबड़ी और भुजिया मँगवाओ। वे कहते थे कि मथुराके पेड़े जैसे होते हैं, वैसे ब्रह्माजी भी नहीं बना सकते। दिन भरमें पचासों चीजोंकी माँग करें, थोड़ा-सा खायें और शेष छोड़ दें।

एक श्रीनानूरामजी व्यास थे जो स्वयं वेदान्ती थे और साधुओंके

बड़े भक्त थे। उन्होंने इन महाराजकी विद्वत्ता देखी तो अपने घर ले जानेके लिये मुझसे कहा। मैंने कहा ले जाइये, वे अपने घर ले गये तथा एक ही दिनमें थककर वापस लाये और बोले कि इन्हें नहीं रख सकते, इनको दिनभर कुछ–न–कुछ चाहिये। तदुपरान्त एक दिन मैंने अकेलेमें उन महात्माजीसे पूछा कि 'महाराज बात क्या है ? असली बात क्या है ?' वे बोले कि 'मैं जानता हूँ कि यह हानिकर है। यद्यपि इससे आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं है, इसलिये मेरी कोई हानि नहीं है, परंतु मेरी जिह्वा मेरे वशमें नहीं है। मैं खा नहीं सकता और पचा भी नहीं सकता, परंतु मेरी जीभ हमेशा नया–नया चाहती है। वर्षोंसे यह रोग मुझे लगा है और इसके कारण मैं लज्जित भी होता हूँ।' अब देखिये थोड़ी–सी चीजके लिये इतने बड़े महात्माकी यह दशा !

मनुष्य जब इन्द्रियोंके परवश हो जाता है, तब न मालूम इसकी क्या–क्या दशा होती है। श्रीतुलसीदासजीने कहा है कि मैं आजतक इन्द्रियोंके वशमें था, इन इन्द्रियोंने, मनने मेरी बड़ी हँसी उड़ायी, आज अपने वशमें हो गया, क्योंकि मैं रामका हो गया हूँ—

अबलौं नसानी, अब न नसैहौं।
राम–कृपा भव–निसा सिरानी, जागे फिरि न डसैहौं।।
परबस जानि हँस्यो इन इंद्रिन, निज बस ह्वै न हँसैहौं।।
(विनय–पत्रिका १०५)

रामकी कृपासे भव–रात्रि व्यतीत हो गयी, अबतक बहुत समय नष्ट हुआ अब और नष्ट नहीं होने दूँगा। अब जग गया हूँ, जगनेके बाद अब कभी नहीं सोऊँगा। मैं जबतक नहीं जागा था तबतक रामका नहीं हुआ था। तबतक इन्द्रियोंका था। इन्द्रियाँ मुझे प्रतिदिन नचाती थीं और हँसी भी करती थीं। मनुष्य इन्द्रियोंके इतना अधिक परवश हो जाता है कि वह थोड़ेसे स्वादके लिये, थोड़ेसे सुखके लिये, थोड़ीसी सुन्दर वस्तुको देखनेके लिये, थोड़ा–सा सुन्दर शब्द सुननेके लिये अपना सब कुछ खो देता है। इसलिये इन्द्रियोंके सम्बन्धमें बड़ी सावधानीकी आवश्यकता है। भगवान्‌ने कहा है—

'कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।' (गीता २। ५८)

अर्थात् जिस प्रकार कछुआ कहीं भी, किसी भी प्रकारकी थोड़ी–सी ध्वनि सुन लेनेपर तत्काल अपने अंगोंको समेट लेता है, जिससे अंगोंपर

चोट न लगने पाये। इसी प्रकार हमें इन्द्रियोंको इन्द्रियोंके विषयोंसे रोक रखना चाहिये। यद्यपि रोकनेपर भी स्वभावतः जायँगी। इनके विषयमें कहा गया है—

'पराञ्चि खानि' (कठोपनिषद् २। १।१)

अर्थात् इन्द्रियोंका स्वभाव ही है बहिर्गमन करना। ब्रह्माने इनका स्वभाव बाहरकी ओर जाना बना दिया है। यद्यपि बाहरकी ओर जानेवाली इन्द्रियोंको रोकना बड़ा कठिन है, परंतु यदि मन बुद्धिके वशमें है और बुद्धि आत्माके वशमें है तो इन्द्रियोंको सरलतासे रोका जा सकता है।

इन्द्रियोंको हमें उस काममें लगाना चाहिये, जिससे हमें अपने असली काममें सहायता मिले। आँख है तो देखेगी ही, कान है तो सुनेगा ही, हमें इनको बंद नहीं करना है। इनके बंद करनेसे साधन बंद हो जायगा। हमारे पास आँख है और हम एक अच्छे ग्रन्थको नहीं देख पाते हैं तो फिर आँखसे क्या काम किया? इसलिये आँखसे काम लेना है। भगवान्‌ने जो हमें इतनी इन्द्रियाँ दी हैं, ये सब–के–सब हमारी सहायताके लिये दी हैं। यदि घोड़े रथमें जुते हैं तो वे रथका संचालन करनेके लिये हैं। रथमें घोड़ोंकी आवश्यकता है ही, परंतु अच्छे या बुरे राहपर ले जाना यह हमारे अधीन है। हम घोड़ोंको चाहे अच्छे रास्तेपर ले जायँ या बुरे रास्तेपर, परंतु इनको यदि वैसे ही छोड़ दें, अनियन्त्रित कर दें तो क्या होगा ? गाड़ीमें जुते हुए जो अच्छे–अच्छे घोड़े होते हैं, उनकी आँखोंपर आवरण लगा देते हैं ताकि वे इधर–उधर न देख सकें और निर्देशित मार्गपर ही चलें। घोड़ोंमें ताकत बहुत अधिक होती है, इसीलिये शक्तिकी मापक इकाई 'अश्व–शक्ति' (horse-power) है। इन्द्रियाँ भी प्रबल होती हैं। इसीलिये इनकी तुलना घोड़ोंसे की जाती है। इन्द्रियोंको घोड़े बतलाते हैं और विषयोंको उन घोड़ोंके विचरनेका मार्ग बतलाते हैं—

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाँ् स्तेषु गोचरान्।

(कठोपनिषद् १। ३। ४)

तथा जीवात्मा रथका स्वामी, शरीर रथ, बुद्धि सारथी और मन लगाम है—

आत्मानँ् रथिनं विद्धि शरीर रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ।।

(कठोपनिषद् १। ३। ३)

इसी रथमें बैठकर हमें अपने असली घर, परमात्माके धाममें पहुँचना है, इसलिये आत्महत्यासे काम नहीं होगा। इन्द्रियोंको नष्ट करनेसे काम नहीं चलेगा। हमें इन्द्रियोंको, मनको भगवान्‌की ओर लगाना है और इस रथको सावधानीपूर्वक उस रास्तेकी ओर मोड़ देना है, जिसमें गड्ढे न हों, जो ऊबड़-खाबड़ न हो और जिसमें हम रास्ता न भूलें तथा किसी प्रकारसे अपनी हानि न कर बैठें। यह सब सावधानीपूर्वक सम्पन्न करना है। तब प्रश्न उठता है कि सावधानी हो कैसे? तो इसका समाधान है कि सारथि अच्छा हो, कुशल हो तब काम बनेगा। अन्यथा जिस प्रकार कोई अंधा अपने मार्गदर्शन-हेतु डंडा किसी अंधेके हाथमें दे दे तो दोनों लक्ष्य तक न पहुँचकर बीचमें ही इधर-उधर भटकते हैं और रास्तेमें गिरकर कष्ट भोगते हैं, वही दशा होगी—

अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥

(मुण्डकोपनिषद् १। २। ८)

इसलिये अन्धेको चाहिये कि आँखवालेको डंडा पकड़ाये, जिसके सहारे-सहारे वह चलता जाय। हमें चलानेवाली बुद्धि है, जिसके दो काम हैं—यह मीमांसा भी करती हैं और शासन भी करती है। बुद्धिके पास दो विभाग हैं—न्याय-विभाग और शासन-विभाग। परंतु यदि बुद्धि विकृत होती है तो न ही वह न्याय कर सकती है और न ही संचालन कर सकती है। बुद्धिका निर्णय यदि उलटा हुआ तो सारा काम उलटा हो जायगा। लोगोंका पतन क्यों होता है? बादमें कहते हैं कि मेरी बुद्धि मारी गयी थी, मति ही विपरीत हो गयी, उस समय बुद्धिने काम नहीं किया। भगवान् कहते हैं कि बुद्धि तब विपरीत होती है, जब उसपर तमोगुण छा जाता है—

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥

(गीता १८। ३२)

तामसी बुद्धि उलटा निर्णय ही करती है। इससे रास्ता पूछें तो रास्ता सीधा न बताकर उलटा रास्ता बतायेगी, क्योंकि यह तमसाच्छन्न है, अन्धेरेमें है, मोहग्रस्त है। मोहग्रस्त बुद्धि मीमांसा नहीं करती है तो संचालन क्या करेगी ? यदि सारथी मदिरा पिये हो, मूर्ख हो और रास्ता भी न जानता हो, तब ऐसी दशाकी कल्पना करें कि परिणाम कितना भयावह

होगा? जीवनमें हाँकनेवालेकी बड़ी महत्ता है।

अर्जुनने जिस क्षण अपने रथकी लगाम भगवान् श्रीकृष्णको सौंपी, उसी क्षण उसकी विजय निश्चित हो गयी। शास्त्रोंमें यह बताया गया है कि सारथी कैसा होना चाहिये? उसके लिये पाँच बातें आवश्यक हैं—(१) वह सदा सावधान रहे—जागरूक रहे, (२) वह नशेबाज़ न हो—मदिरा न पिये हो, (३) वह मार्गको जाननेवाला हो, (४) वह मालिकका आज्ञाकारी हो और (५) वह घोड़ोंके संचालनकी क्रिया जानता हो। ये पाँचों गुण सारथीमें होने आवश्यक हैं। इनमें एककी भी कमी हो तो गन्तव्य स्थानपर पहुँचनेमें संदेह हो जाता है। यदि कोई बहुत चुस्त हो, घोड़ोंका संचालन जानता हो, परंतु मदिरा पिये हो या सोता रहता हो तो परिणाम कल्याणकारी नहीं होगा।

इसलिये यह आवश्यक है कि बुद्धि जाग्रत् हो, बुद्धि सावधान हो, बुद्धि अमादक हो, बुद्धि आज्ञाकारिणी हो और रास्ता जानती हो। यह बात अगर नहीं होती है तो मुश्किल होती है। बुद्धिमें जो सात्त्विकता है, वही सन्मार्ग प्रदर्शित करती है। इन्द्रियोंका आपसमें पारस्परिक सम्बन्ध है। इन्द्रियोंका सम्बन्ध मनसे, बुद्धिसे और आत्मासे है। इसी प्रकार आत्माका सम्बन्ध इन्द्रियोंसे, मनसे और बुद्धिसे है। ये सभी जबतक एक साथ रथसे जुड़े हैं तबतक किसी एकके भूलसे सबको चोट आ सकती है। सारथीने भूल कर दी तब लगाम टूट गयी, तब घोड़े बिगड़ गये, तब रथ बिगड़ गया, इसलिये इन सबका ठीक होना आवश्यक है। जैसा कि पूर्वमें उल्लेख है कि शरीर रथ है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं, मन लगाम है, बुद्धि सारथी है, यह आत्मा चैतन्य रथी है। ये सभी अन्योन्य रूपसे एक दूसरेके सहायक हैं। अगर इन्द्रियाँ बुरे स्थानपर नहीं जायँगी तो सारथीको बुरी आदतें कम पड़ेंगी और यदि सारथी इन्द्रियोंको बुरे स्थानपर नहीं जाने देगा तो वे वहाँ नहीं जायँगी।

इसलिये यह आवश्यक है कि मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ सभी अच्छे कार्यमें लगे। जब जगत्‌में तम अधिक छा जाता है तब उलटा काम होता है, क्योंकि मन होता है इन्द्रियोंके अधीन और बुद्धि होती है मनके अधीन तथा मनुष्य यह मान लेता है कि क्या करें हमारा मन ही नहीं मानता है। क्या बतायें हमारी आँख, जीभ एवं कान नहीं मानते। यदि हमें किसी चीजका शौक है तो उसे करें, परंतु उसमें एक तत्त्वका ध्यान रखना है कि हम जो देखें, सुनें, चखें, सूँघें या स्पर्श करें, उसमें हमारे आत्माका उत्थान है या पतन ? सबको एक कसौटीपर कस करके सबको काममें लेना है।

आत्माका पतन करनेवाला शब्द हमारे लिये त्याज्य है, चाहे वह कितना ही सुन्दर तथा सुरीला हो। किसी वेश्याकी आवाज यदि बहुत सुन्दर है, वह बड़ा अच्छा गाती है, उसकी ध्वनि बड़ी सुरीली है, परंतु यदि उसका गान सुननेसे हमारे मनमें विकार होता है तो वह हमारे लिये सर्वथा त्याज्य है। इसी तरह रसकी, खानेकी, देखनेकी एवं सूँघनेकी सभी बातोंमें इस सिद्धान्तको अपनायें। एक बात और जो इन्द्रियाँ वशमें नहीं होती हैं, वे मनको बहुत जल्दी आकर्षित करती हैं। यदि आकर्षित मन हो, लगाम ढीली हो और सारथी इसके अधीन हो जाय तो थोड़ी–सी असावधानीके कारण सारा मामला बिगड़ जाता है। इसलिये शास्त्रकार सर्वदा सावधान रहनेके लिये कहते हैं।

'दुस्संगः सर्वथैव त्याज्यः' (नारदभक्ति–सूत्र ४३)—नारदजीने कहा है कि बुरे संगका सर्वथा ही त्याग करें। क्षणभरके लिये ही यदि बुरा संग हो गया और उसने मनमें सोये हुए शैतानको जगा दिया तो न जाने क्या दशा होगी ? अजामिल ब्राह्मण–पुत्र था, नौजवान था, सदाचारी था, मातृ–पितृभक्त था, वेदाध्ययन करता था। पिताके सुशासनमें उसके अंदर जो विकार थे (विकार सभीमें रहते हैं) वे दबे थे, सोये हुए थे। वह प्रतिदिन पिताके हवन–कार्यहेतु लकड़ियाँ लेने जाया करता था। अबतक उसने बुरी नीयतसे कोई कार्य नहीं किया था। एक दिन वह समिधा लेकर लौट रहा था और रास्तेमें उसकी आँखोंने एक दृश्य देखा, उसे देखते ही उसके मनका शैतान जाग उठा। उसका सोया हुआ विकार उद्विग्न हो गया और उसे अपने वशमें कर लिया। फिर तो उसका ब्राह्मणत्व गया, सदाचार गया, धर्म गया। वहीं उसने एक चाण्डाल स्त्रीसे विवाह कर लिया और एक क्षणके बुरे संगसे उसका सारा जीवन अधर्ममय हो गया।

इसलिये जो इतने वीर हैं कि हजारों चोट खानेके बाद भी नहीं गिर सकते, महात्मा हैं, आदर्श हैं, उनकी बात अलग है, परंतु कमजोर हृदयके प्राणी जिनकी संख्या सर्वाधिक है, उनके लिये यह आवश्यक है कि कभी भी किसी भी प्रकारसे किसी इन्द्रियको बुरे संगमें न जाने दें। यह बहुत सावधानीकी चीज है। बुरा संग लगेगा और जीवन बिगाड़ देगा। मैंने अच्छे–अच्छे आदमियोंको देखा है जो बुरेको बुरा मानते थे, परंतु उनका इतनी तेजीसे पतन हुआ कि कोई ठिकाना न रहा। वे बेशक अच्छे थे, परंतु बुरे संगमें आ गये और मनका शैतान जग गया, इन्द्रियोंने जोर मारा और

गिर गये। स्पर्शेन्द्रिय और रसनेन्द्रिय—ये दो बहुत ही घातक हैं, इनसे सदैव बचना चाहिये। मामूली-सी भी बात मनुष्यके मनको खींचनेके लिये पर्याप्त है। जरा-सा भी किसीके मनमें किसी इन्द्रियके द्वारा विकार पैदा हो गया, फिर अपने हाथकी बात नहीं रहती है। इसलिये मनुष्यको इतना सावधान रहना है कि थोड़े समयके लिये भी कोई इन्द्रिय बुरे संगमें न लगे। अगर कहीं इन्द्रियाँ आसक्त हुईं और वह बात मनमें बैठ गयी तो बहुत बुरा होगा। एक दिन मेरे एक मित्रको जो अन्यत्र कहीं नहीं जाते थे, उनको एक सज्जन भोजनपर ले गये। उन्होंने उस दिन एक ऐसी चीज खायी जो उनको अच्छी लगी। वह चीज थी खराब, परंतु उनके जीभको अच्छी लगी। वे बड़ी मुश्किलसे अपनेको बचा सके, परंतु एक बार तो गिर ही गये। मनुष्यको इन्द्रियोंके आवेगसे ऐसा आवेश आता है, जिससे उसकी बुद्धि मारी जाती है और वह पतनके पथपर चल देता है। गीतामें पतनकी क्रमिक गतिका निरूपण है—

> ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते।
> संगात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।।
> क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
> स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।।
>
> (२। ६२—६३)

अर्थात् पहले विषयका चिन्तन होता है, चिन्तनसे आसक्ति होती है। आसक्तिसे कामना, कामनासे पूर्तिमें लोभ या कामनापर चोट लगनेपर क्रोध, क्रोधसे मोह, मोहसे स्मृतिनाश, स्मृतिनाशसे बुद्धिनाश और बुद्धिनाशसे आदमी अपनी स्थितिसे गिर जाता है और अपना सर्वनाश कर लेता है।

लोग कहते हैं कि क्या अच्छा कपड़ा न पहनें, क्योंकि इससे भी तो विषयका चिन्तन होगा ? अच्छा कपड़ा पहनना है, परंतु उसके उद्देश्यमें तीन बातें हैं—सामाजिकता, धूप-शीतसे रक्षा और शास्त्रकी आज्ञाका पालन। इन्हीं तीन बातोंके लिये हम कपड़ा पहनते हैं, परंतु यदि हमारे मनमें आये कि लोग हमारे कपड़ेको देखें और देखकर हमारी तरफ आकर्षित हों तो उपर्युक्त तीनों बातें मारी गयीं और हमारे सामने भोग आ गया। यह एक मनोवैज्ञानिक बात है, आप चाहे तो परीक्षा करके देख लें। जो लोग अधिक शौकीन हैं, उनके मनमें छिपा हुआ काम रहता है। वह

दिखाना चाहते हैं, परंतु दूसरा उतना नहीं देखता है। हम यदि बाहर निकलने लगें तो अपने वस्त्रोंको देखने लगते हैं कि कहीं दाग तो नहीं लगा है। इससे मनुष्यकी मनोवृत्तिका पता चलता है कि वह चाहता क्या है ?

श्रृंगार करना स्त्रियोंके लिये शास्त्रादेश है, परंतु उसपर कड़ा बन्धन भी लगा दिया गया है। शास्त्रकारोंने बड़े कड़े शब्दोंमें कहा है कि जो स्त्री दूसरेको दिखानेके लिये श्रृंगार करती है तो मानो वह वेश्या ही है। श्रृंगार केवल पतिके लिये होना चाहिये दूसरेके लिये नहीं। इसलिये कहा गया है कि जिसके पति परदेश गये हों, वह श्रृंगार न करे। जहाँपर भी श्रृंगारका अर्थ दूसरेकी मनोवृत्तिको खींचना है, वहाँ उसके मनमें काम है। इसी प्रकार भजन, कीर्तन, व्याख्यान, समाधि और ध्यान अगर लोकमें दिखानेके लिये हैं तो सावधान हो जाय, क्योंकि कहीं–न–कहीं इसमें कोई गड़बड़ी अवश्य है।

एक काजी साहब थे, उन्हें दिनमें छः–छः बार नमाज पढ़ते हुए तीस वर्ष हो गये और जब अन्तकालके बाद खुदाके पास गये तो उन्होंने कहा कि तुम्हारी बन्दगीसे हम खुश नहीं हैं, तुम नरकोंमें जाओ। काजीजी बोले––मैं क्यों जाऊँ, मैं तो छः बार नमाज़ पढ़ता था। वे बोले तुमने नमाज़ दिखानेके लिये पढ़ी है, मेरी बन्दगीके लिये नहीं। जब कोई देखनेवाला नहीं होता था तो घुटना टेके और चलते बने और जब कोई देखनेवाला होता था तो घंटों लगाते थे।

इसी प्रकार यदि हम दिखानेके लिये ध्यान करते हैं तो ध्यान तो कोई दिखानेकी चीज है नहीं। अपने परमात्माको खुश करना यह तो नितान्त व्यक्तिगत बात है। पतिव्रता स्त्री क्या पतिको खुश करनेके लिये कहीं नाचना–गाना सीखती है ? बल्कि उसे खुश करनेके लिये उसके सामने जो उसे आता है, वही करती है। इसी प्रकार परमात्माके सामने, परमात्माके लिये जिसकी सारी इन्द्रियोंका उपयोग है, वहाँ तो ठीक है अन्यथा यदि कोई दूसरी बात है तो उसे सावधान हो जाना चाहिये कि न मालूम हम यहाँ किसकी गुलामी कर रहे हैं, इन्द्रियोंकी या भगवान्‌की ?

एक आदमी आरती करते हुए ऐसी भाव–भंगिमा दिखाता है कि देखनेवाले उसकी ओर आकर्षित हो जायँ। इस प्रक्रियामें वह भगवान्‌को भूल जाता है और देखने लगता है कि लोग मुझे देख रहे हैं कि नहीं और क्या प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं ? बस, मामला खत्म हो गया। इसी प्रकार

कोई भगवान्‌के लिये बढ़िया–से–बढ़िया भोग लगावे तो यह बड़ी उत्तम बात होती है, परंतु यदि अपनेको ध्यानमें रखकर लगाता है तो यह बात उचित नहीं है। इसमें व्यक्तिकी मनोदशाका पता चलता है कि वह अपने इन्द्रियोंकी तृप्तिके लिये काम कर रहा है या वास्तविक सेवाके लिये कर रहा है। यदि सेवाके लिये काम कर रहा है तो छोटा काम भी बहुत बड़ा और यदि अपने इन्द्रियोंकी तृप्तिके लिये है तो वहाँ प्रेम है ही नहीं।

चैतन्य महाप्रभुने कहा है—'निजेन्द्रिय प्रीति इच्छा तार नाम काम' अर्थात् अपनी इन्द्रियोंके तृप्त करनेकी जहाँ इच्छा है, उसका नाम काम है। है वह काम और हम उसे प्रेम कहते हैं। गोपियोंके प्रेमको लोग काम कहते हैं, परंतु काम वहाँ है ही नहीं, क्योंकि गोपियोंके मनमें निज–सुख–इच्छाका लेशमात्र भी भाव नहीं है। इसलिये मनुष्यको हमेशा सावधान रहना चाहिये कि वह इन्द्रियोंकी गुलामीमें कभी न आये। हालाँकि मनुष्य बहुत शीघ्र गुलामीमें आता है और वह गुलामी इतना दबाव बना देती है कि उससे छूटना आसान नहीं होता है। यदि हम कहीं गये और आरामकी चीज मिल गयी तो उसे पुनः उपयोग करनेको सोचते हैं। इसमें मन यदि उस स्पर्श–सुखको लेनेको सोचा है तो इन्द्रियवश हो गया।

मान लीजिये कोई प्रचारक हैं, देशकी बात करते हैं, धर्मोपदेश करते हैं और उनका हम बहुत उत्तम स्वागत करें तो कहेंगे कि यह बहुत अच्छा व्यक्ति है, समझदार है और जहाँ खातिर नहीं हुई तो कहेंगे कि इसमें प्रेम नहीं है; अतः जहाँ प्रेम नहीं है वहाँ पुनः आकर क्या करना ? अब जहाँ प्रेम नहीं है वहीं तो प्रेम पैदा करना है। जहाँ है वहाँ क्या करना, वहाँ तो है ही। परंतु मनमें छिपी बात रहती है कि हमें सुख मिला या हमें सुख नहीं मिला—इससे सावधान रहना है। समस्त धर्मके साधनोंमें, समस्त साधनाओंमें मनुष्यको इस सावधानीकी आवश्यकता है। इसे भगवान्‌ने बहुत जोर देकर गीतामें कहा है।

ज्ञानियोंका जहाँ प्रसंग आया वहाँ भगवान्‌ने सोचा कि दो बातोंसे ज्ञानी लोग सब खराब कर देंगे। प्रथम, वे कह देंगे कि भाई ! जगत् है ही नहीं तो किसीका भला–बुरा क्या ? भला हमसे होता नहीं और बुरा करनेमें जगत् है नहीं, अपनेको किसीको दान देना नहीं है और लेनेमें आपत्ति नहीं है, क्योंकि जगत् है ही नहीं। द्वितीय, 'गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते' (गीता ३। २८)—की व्याख्या अपने अनुरूप करेंगे कि गुण–ही–गुण

बरत रहे हैं, हम कुछ करते ही नहीं, हम चाहे जो कुछ करें। इसलिये भगवान्‌ने सावधानी बरती और गीतामें कहा कि 'संनियम्येन्द्रियग्रामम्' एवं 'सर्वभूतहिते रताः' (गीता १२। ४)—ये दो बातें होनी चाहिये। यदि इन्द्रियोंको वशमें करोगे और सारे भूतोंके हितमें रत रहोगे तब तुम्हारा ज्ञान आगे बढेगा।

यदि केवल ज्ञानके नामपर तुमने इन्द्रियोंका नियन्त्रण तोड़ दिया और किसीके सुख–दुःखकी परवाह करनी छोड़ दी, तब ज्ञानके नामपर अज्ञान आयेगा। इसी प्रकार भक्तोंके लिये कहीं माला फेरनेकी बात गीतामें है ही नहीं। यह भी नहीं कहा है कि ऐसी माला पहनें, ऐसे फेरें, ऐसी कंठी पहनें, ऐसे तिलक लगावें, ऐसी रामनामी रखें इत्यादि। गीताके अनुसार भक्तकी परिभाषा है—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी।।

(१२। १३)

अर्थात् भगवान्‌ने कहा कि मेरा जो भक्त है वह किसी भी प्राणीसे द्वेष नहीं करता, वह सबका मित्र होता है, जहाँ दुःख होता है वहाँ वह बड़ा दयालु होता है, कहीं ममता नहीं करता, अहंकार नहीं करता, अपने सुख–दुःखमें समभाव रखता है और बुरा करनेवालेका भी भला करता है। इसमें कहीं यह नहीं बताया गया है कि भक्तके कपड़े कैसे हों, माला कैसी हो, आसन कैसे हों, इन सबकी उपयोगिता नहीं है। ये उपयोगी हैं, परंतु ये बाहरके आवरण हैं, पोशाक हैं। बाहरकी पोशाक पहन ली और अंदरका दोष बना रहा तो वह पोशाक दूसरेको धोखा देनेवाली होगी और उस पोशाक पहननेवालेसे घृणा हो जायगी।

मीरा बहन जो गाँधीजीके पास रहती थीं, उन्होंने एक बार 'हिन्दुस्तान टाइम्स' पत्रमें लिखा कि मैंने ऋषिकेशमें जाकर देखा कि जहाँ संतोंका स्थान था, वह अब पिशाचों (Devils)का स्थान हो गया है। इनके अंदरतक मैंने घुसकर देखा है कि इन साधुओंके अंदर सब तरहकी बुराइयाँ आ गयी हैं। इससे यह बात स्पष्ट है कि यदि कोई अच्छे वेशवाले, अच्छे आचरणवाले न हों तो वह वेश और आचरण बदनाम होता है।

एक बात और यदि किसी जातिका कोई आदमी बिगड़ता है तो पूरे जातिकी बदनामी होती है। एक घरका आदमी बिगड़े तो पूरे घरकी

बदनामी होती है, गाँवका प्रधान बिगड़े तो गाँवकी बदनामी होती है और यदि देशका प्रधान बिगड़े तो देशकी बदनामी होती है। इसी प्रकार जो अपनेको भक्त कहता है, वह बिगड़ता है तो भगवान्पर लाञ्छन लगानेवाला होता है। लोग कहते हैं कि देखो भगवान्के भक्तोंका ऐसा काम है। भगतजी बने हैं और 'मुँहमें राम बगलमें छुरी।'

इसलिये आचरणकी पवित्रता एवं इन्द्रियोंका संयम अत्यावश्यक है। साधकोके लिये इसकी बड़ी आवश्यकता है, यदि ऐसा नहीं हुआ और हम इनके गुलाम बने रहे तो हमारी स्वतंत्रता उच्छृंखलताके रूपमें बदल जायगी। यदि व्यक्ति–स्वातन्त्र्य उच्छृंखलतामें परिवर्तित हो जाय तो हम मनमाना करने लगेंगे—समाजको, धर्मको, भगवान्को और अपनेको नहीं देखेंगे तो इसके परिणामस्वरूप जगत् बिगड़ेगा।

इसलिये शास्त्रकार कहते हैं कि संचालन करनेवाली इन्द्रिय, मन और बुद्धि इन तीनोंको भगवान्से जोड़ें। मनसे भगवान्का चिन्तन करें, बुद्धिसे भगवान्का निश्चय करें और इन्द्रियोंको भगवत्–कार्योंमें लगायें। आँखसे बुरी चीज देखनेके बदले अच्छी चीज देखें। उन चीजोंको देखें—जिनका प्रयोग करनेसे संसारका, जीवोंका भला होता है। जीभके द्वारा वैसी बात कहें, जिससे अपना और सुननेवालेका भला हो। किसी भी आवेगसे या आवेशमें ऐसी बातें जबानसे न निकालें, जो अपना या जगत्का बुरा करें।

एक और बात सिद्धान्तकी है, जो सदा स्मरणीय है 'हमारी जिस क्रियासे दूसरेका बुरा होगा, उस क्रियासे हमारा कभी भला होगा ही नहीं।' जो आदमी समझता है कि मैं दूसरेका बुरा करके अपना भला करूँगा, वह अपना भला कभी कर ही नहीं सकता। उसका परिणाम कभी अच्छा होगा ही नहीं। यदि दूसरेके भलेके लिये अपना त्याग करेगा तो वह अपनेको खो करके भी बहुत कुछ पा लेगा, क्योंकि भगवान्के घरमें न्याय है। इसलिये इन्द्रियोंके द्वारा, मनके द्वारा, बुद्धिके द्वारा ऐसा काम कभी न करे, ऐसे संगमें न रहे, ऐसे विषयका सेवन न करे, न चिन्तन करे; जिससे अपना पतन हो और दूसरेके मनमें शैतान जगे। जैसे गायनका जलसा हो और उसमें अश्लील गाने गाये जायँ, जिससे सुननेवालोंके मनमें विकार पैदा हो तो यह मनोरञ्जन हुआ या उनका विनाश किया—यह बात विचारणीय है। हमारी

जिस क्रियासे किसी दूसरेके मनका आसुरभाव जाग उठे, वह क्रिया बहुत बुरी। हमारी प्रत्येक क्रिया ऐसी होनी चाहिये, जिससे दूसरेके अंदरके आसुरभावको सुला दे, मार दे तो बहुत अच्छा।

पिलानीके एक लच्छीरामजी मुरोदिया कलकत्तेमें रहते थे। मैंने उनका बड़ा संग किया, वे महात्मा थे और एक गृहस्थ व्यापारी थे। दो भाई आपसमें लड़ रहे थे, इसी बीच वे उनसे किराया माँगने गये तो वे दोनों आपसकी लड़ाई छोड़कर उनसे लड़ने लगे। उन्होंने कहा चलो, इसी बहाने उनकी आपसकी लड़ाई तो दूर हुई। अब वे मुझको गाली बकेंगे, बक लें, कहाँतक बकेंगे ? जब वे बकते–बकते थक जाते तब ये हँसकर बोलते क्यों भाया अब ठीक है न ? मुँहकी भाप निकल गयी, अब शान्त हो जाओ। एकने गुस्सेमें आकर कहा कि लच्छीराम ! तुम्हारा धरतीपर खोज न रहे। इसपर वे हँसकर बोले—भइया ! मैं भी यही चाहता हूँ, परंतु मेरे कर्म ऐसे नहीं हैं, जिससे यह बात सच हो। धरतीपर मेरी खोज न रहे, मैं मुक्त हो जाऊँ, इससे अच्छी बात क्या होगी ? ऐसा सुनकर वह भी हँसने लगा। इस प्रकार यदि किसीने हमारे साथ बुराई की तथा हमने भी बदलेमें बुराई कर दी तो उसके पापकी आगमें हमने आहुति डाल दिया और यदि हमने शान्तिके कुछ शब्द कहकर शान्त कर दिया तो उसके पापाग्निपर हमने पानी डालकर उसके बढ़ते हुए पापोंको शान्त कर दिया।

इसलिये यह अत्यावश्यक है कि हमारे इन्द्रिय, मन और बुद्धिके द्वारा कोई ऐसा काम नहीं होना चाहिये, जो हमे विषयोंका गुलाम बना दे, दूसरोंके और हमारे अपने मनके असुरको जगा दे। यह सबसे बड़ी सेवा है। मान लीजिये एक आदमी बहुत व्याख्यान देता है और उपकार भी करता है, परंतु लोगोंके अंदर द्वेष पैदा कर रहा है तथा दूसरा आदमी कुछ नहीं बोलता है और दूसरोंकी गुपचुप सेवा करता है। उन दोनोंमें गुपचुपवाला अच्छा है, क्योंकि दूसरा तो उनके अंदर उस चीजको जगा रहा है, जो उनका पतन करा देगी। यह सिद्धान्त है कि राग–द्वेष कभी किसीका भला करते ही नहीं, कर ही नहीं सकते हैं। भगवान्‌ने बहुत सावधानी रखनेके लिये ही गीतामें घोषणा की है—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ।।

(३। ३४)

भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा कि देखो, प्रत्येक इन्द्रियके प्रत्येक विषयमें राग–द्वेष व्यवस्थितरूपसे डेरा डाले बैठे हैं, अतः इन्द्रियोंका तो विषयोंसे सम्बन्ध होगा ही। आँख किसी वस्तुको देखेगी ही, कान सुनेंगे ही, परंतु उनसे यदि राग–द्वेषके वशमें हो गये तो लुट जाओगे। 'ह्यस्य परिपन्थिनौ' कहा। परिपन्थीका अर्थ है बटमार, रास्तेमें लूटनेवाले। ये रास्तेमें बैठे हैं, इनके वशमें न होना, नहीं तो वे लूट लेंगे। यदि हम स्वयं किसी धर्म, वस्तु, सम्प्रदाय, स्वार्थ या परमार्थको लेकर किसीके मनमें राग–द्वेष पैदा करें तो उसका अपकार ही करेंगे। इसलिये जो पारमार्थिक साधक हैं, जिन लोगोंको अपना उत्थान करना है, उन्हें सतत सतर्क रहना है। उत्थान केवल वेशसे नहीं होता, देशसे नहीं होता और केवल ऊपरी बातोंसे नहीं होता है, बल्कि उत्थान होता है आत्माका। अन्तःकरण पवित्र होना चाहिये। चरित्रकी जो शुद्धि है, वही वास्तविक उत्थान है।

यदि हम भौतिक वस्तुओंकी वृद्धिको उत्थान मान लें तो राक्षसोंके पास बहुत–सी चीजें थीं, उनके पास बहुत–सी भोग–सामग्रियाँ थीं, परंतु वे रात–दिन यज्ञोंको विध्वंस करते थे। उनका उत्थान नहीं था। बाह्य उत्थान या भौतिक प्रगतिका नाम उत्थान नहीं है। उत्थान या उठना वह है जिससे हमारा चित्त सात्त्विकतासे जुड़ जाय। तमोगुणसे ऊपर उठकर सत्त्वगुण तक पहुँच जाय। यदि हम तामसिकतामें आगे बढ़े तो अपना पतन करनेके साथ–साथ साथियों और अनुयायियोंका भी पतन कर देंगे। इसलिये हम हमेशा सत्त्वगुणके परिपोषक तत्त्वोंका ही इन्द्रियोंके द्वारा, मनके द्वारा और बुद्धिके द्वारा आहरण करें, विषय करें, चिन्तन करें, देखें, सुनें, सूँघें, स्पर्श करें और जो बुरी चीज है उसको त्याग दें।

नारदजीने कहा है—'तरंगायिता अपीमे संगात् समुद्रायन्ति'। (नारदभक्ति–सूत्र ४५) अर्थात् विषय पहले मनमें तरंगकी भाँति आते हैं और यदि उनको रख लिया तो समुद्र बन जाते हैं। जैसे छोटी–सी आगकी चिनगारी यदि विशाल कपड़ेपर डाल दी जाय तो वह सबको जला देगी। इसी प्रकार बुरी चीज जरा भी तरंगकी भाँति आ जाय तो सावधान हो जाना चाहिये कि यह पाप कहाँसे आ गया। सूरदासजीने कहा है—

मो सम कौन कुटिल खल कामी।
जौ तन दियौ ताहि बिसरायौ, ऐसौ नोन–हरामी।।

(सूरसागर १४८)

एक दिन सूरदासजी क्षणभरके लिये भगवान्‌को भूल गये तो उनको जैसे वज्रपात हो गया। उन्होंने कहा मेरे जैसा कुटिल, खल, कामी कौन है, जिसने भगवान्‌को बिसराया, यह पाप कैसे सहा जाय ? मैंने एक बार गाँधीजीकी डायरी देखी तो मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। उसमें एक दिनका वर्णन था कि वे किसी एक दिन प्रार्थना नहीं कर सके तो सबेरे रोने लगे कि यह कैसे हो गया ? मैं अपने भगवान्‌को कैसे भूल गया। उनको भूलकर मैं जी कैसे सकता हूँ ? इस तरह यदि थोड़ा–सा बुरा काम इतना बुरा लगे कि कोई सीमा न हो तो उसके परिणास्वरूप बुराई नहीं होगी। परंतु जब हम बुरे कामके अभ्यासी हो जायँ और बुरे कामका बुरापन हमारे मनसे निकल जाय तब हम तर्क देंगे कि यह तो सभी करते हैं तो हम भी करते हैं।

हम सबका बहाना करते हैं, परंतु हमारे मनसे द्वेष–घृणा निकली नहीं है। यदि सभी जहर खायें तो क्या हम भी जहर खा लेंगे ? विषबुद्धि होनेपर कोई विष नहीं खाता है। जब हम कहते हैं कि सभी करते हैं तो हम भी करें, यह अपने पापको दूसरोंपर डालनेका बहाना है। यदि अपने मनमें किसी कामके प्रति घृणा हो तो हम उसे नहीं कर सकते हैं, भले ही दूसरे ऐसा करते हों। जब हमारा मन भी ऐसा हो जाय कि आजकल सभी ऐसा करते हैं और ऐसा किये बिना काम नहीं चलता है तब तुरंत सर्तक हो जाय। काम इसलिये नहीं चलता कि हमारा मन उस बुराईको स्वीकार नहीं करता। यदि स्वीकार कर ले तो काम चलेगा, चाहे जैसे चले।

जगत्‌के भोग मिलते हैं प्रारब्धसे। काम जैसे चलना है वैसे ही चलेगा, नहीं चलायेंगे तब भी चलेगा। जिस प्रकार दुःख बिना बुलाये आते हैं, उसी प्रकार सुख भी बिना बुलाये आयेंगे। बुराई स्वीकार करनेपर सभी पाप हमारे सिरपर आ जायँगे और कुछ लाभ नहीं होगा।

हमारे मनमेंसे पापसे घृणा समाप्त हो गयी और हम इन्द्रियोंके, मनके गुलाम हो गये, इसलिये यह दशा हो गयी है और हम निरन्तर गिरते चले जा रहे हैं। देशकी जो आज दशा है, ऐसी आगे होती रही तो अभी बहुत दुःख और बढ़ेंगे। यह नियम है कि मनमें पहले बुराई आती है, फिर क्रियामें आती है, तत्पश्चात् उसका फल सामने आता है। इसलिये जो भी अपनेको बुद्धिमान् मानता है और अपना उत्थान चाहता है, वह दूसरोंकी तरफ देखना बंद कर दे। दूसरे क्या करते हैं, उससे प्रयोजन रखे ही

नहीं। अपनेको जो अच्छा लगेगा हमें वही करना है। हम तो अच्छी बात ही मानेंगे, भले ही सब लोग मानना बन्द कर दें। यदि मनुष्य अपने लिये यह निश्चय कर ले कि यह काम बुरा है, हमें इसका परित्याग करना है। आजहीसे मैं इसे नहीं करूँगा, नहीं करूँगा, नहीं करूँगा तो कोई दूसरा उससे नहीं करा सकता है। इससे उसकी हानि नहीं होगी।

यह सिद्धान्त है कि बुराईके त्यागका फल कभी बुरा नहीं हो सकता और अच्छाईके ग्रहणका फल कभी बुरा नहीं हो सकता है। यह नियम है इसपर विश्वास नहीं करके हम मूर्खतावश बुराईमें लाभ देखने लगें यह अलग बात है, परंतु उसका फल अच्छा नहीं होगा। इसलिये जहाँतक सम्भव हो इन्द्रियोंको, मनको रोकें, इनका निग्रह करें, इनकी गुलामीका परित्याग करके सच्चे अर्थोंमें स्वतन्त्र होकर जीवन–पथपर सदैव आगे–ही–आगे बढ़ते रहें और इस अमूल्य जीवनको सार्थक बनायें। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

बिगरी जनम अनेक की सुधरै अबहीं आजु।
होहि राम को नाम जपु तुलसी तजि कुसमाजु।।

(दोहावली २२)

—o—
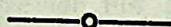
क्षणभंगुर जगत्

क्षणभंगुर प्रत्यक्ष जगत्के सारे जीवन, धन, अधिकार।
इनके लिये कामना करना, पाना इन्हें—सभी बेकार।।
सुख न कभी होगा इनसे, ये दुःखोंके हैं पारावार।
बड़ी मूर्खता है, जो इनमें कुछ भी रखता ममता–प्यार।।
इन सबका आना–जाना है सब प्रभुका माया–विस्तार।
इनमें रहो असंग, भजो नित मायापतिको सभी प्रकार।।

(पद–रत्नाकर, पद सं० १०३३)

मानव–जीवनकी दुर्लभता

जीवनका जो समय, जितना काल भगवान्‌के सम्पर्कमें जाता है, वही सार्थक है। जीवन जो बीता जा रहा है, हम लोग इसे अच्छे कार्यमें लगावें तब भी व्यतीत होगा और बुरे कार्यमें लगावें तब भी व्यतीत होगा। यह काल रुक नहीं सकता, पर मानव–जीवनके जो क्षण हैं वह इतने बहुमूल्य हैं कि इन क्षणोंका किसी भी कीमतमें पाना बड़ा ही कठिन है।

कबहुँक करि करुना नर देही।
देत ईस बिनु हेतु सनेही।।

अकारण कृपा करनेवाले भगवान् दया करके जीवको मनुष्य–शरीर प्रदान करते हैं ताकि यह जीव जो कार्य अन्य किसी भी देहमें जाकर अबतक नहीं कर पाया वह कार्य कर ले। लेकिन मनुष्य–शरीर प्राप्त होनेपर भी प्रमादवश जीवनके क्षणोंको व्यर्थमें अथवा बुरे कार्योंमें व्यतीत करता है, उसके समान मूर्ख कोई नहीं है।

जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निदंक मंदमति आत्माहन गति जाइ।।

मनुष्य–शरीर पाकर, ऐसा समाज प्राप्तकर, जो भवसागरसे नहीं तरता है वह मतिमन्द है, उसकी बुद्धि मारी गयी है। वह कृतनिन्दक है, उसको आत्महत्यारेकी गति प्राप्त होती है।

इसलिये मनुष्य–जीवनका सबसे प्रधान कार्य यही है कि वह अपने जीवनका सम्पर्क भगवान्‌से जोड़ ले। कर्म करे योगनिष्ठ होकर।

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।।
(गीता २। ४८)

तीन प्रकारकी स्थिति होती है—(१) योगस्थ, (२) प्रकृतिस्थ और (३) स्वस्थ। तीनोंका वर्णन गीतामें है। प्रकृतिस्थ जो है वह जीव है—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु।।

यह पुरुष प्रकृतिके साथ तादात्म्य करके उसके साथ मिलकर, प्रकृतिस्थ होकर प्रकृतिमें होनवाले विकारोंको, प्रकृतिमें होनेवाले परिवर्तनोंको अपनेमें मानकर, प्रकृतिके गुणोंसे आबद्ध होकर, कामना, वासना, आसक्ति,

ममता, अहंकार और ईर्ष्यावश कर्म करता है और प्रकृतिके गुणोंको भोगता है। अच्छे–बुरे योनियोंमें जाता है और इसका छुटकारा नहीं होता। यह पुरुष प्रकृतिस्थ है। स्वस्थ वह है जो स्वमें स्थित हो गया, जिसकी स्थिति आत्मामें हो चुकी। जो परमात्माको प्राप्त गुणातीत पुरुष है। गीताके चौदहवें अध्यायमें स्वस्थ पुरुषका वर्णन है। हम स्वस्थ नहीं हैं। प्रकृतिस्थ कभी स्वस्थ नहीं हो सकता। जो प्रकृतिस्थ है वह हमेशा बीमार ही है। शरीरकी बीमारी तो मरनेके साथ मर जाती है, लेकिन वह जो बीमारी है वह मरनेके बाद भी साथ जाती है। इसलिये जो प्रकृतिस्थ हैं वह स्वस्थ नहीं हैं। वह प्रकृतिमें स्थित है। 'स्व' जो आत्मा है, स्वरूप है उसमें स्थित नहीं है। यह प्रकृतिमें स्थित जो पुरुष है इसीका नाम जीव है। प्रकृतिमें होनेवाले विकारों, परिवर्तनों और प्रकृतिमें होनेवाले जन्म–मृत्युके दृश्यको यह अपनेमें मानता है। जैसे किसी दीवालके अंदर घिरा हुआ आकाश दीवालके टूटनेको अपना टूटना माने, दीवालके रँगनेको अपना रँगना माने, दीवालकी शोभाको अपनी शोभा माने। इसी प्रकार प्रकृतिमें स्थित जो पुरुष है, वह प्रकृतिके गुणोंमें बद्ध रहता है—'भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्' (गीता १३। २१) यह प्रकृतिके गुणोंको भोगता है। इसीलिये अच्छी–बुरी योनियोंमें जाता है। इसे होना है स्वस्थ और इसके लिये पहले योगस्थ हो। योगस्थ होनेके लिये सर्वप्रथम भगवान्‌का जो स्वरूप मनमें हो उसके साथ चित्तका योग कर दे तथा उस योगमें बह जाय। पुरुष प्रकृतिस्थ न होकर योगस्थ हो जाय। चित्तको भगवान्‌के साथ जोड़कर उसमें स्थित हो जाय तब कर्म करे। योगस्थके कर्ममें और प्रकृतिस्थके कर्ममें बहुत ही महत्त्वपूर्ण अन्तर है। योगस्थ पुरुषके कर्म जो होते हैं वह आसक्तिरहित और सिद्धि–असिद्धिमें समतायुक्त होते हैं, जबकि प्रकृतिस्थ पुरुषके कर्म आसक्तिसहित और अनुकूल फलकी प्राप्तिके लिये होते हैं।

भगवान्‌ने कहा—अर्जुन ! तुम कर्म करो, परंतु कर्म करो योगमें स्थित होकर, आसक्ति छोड़कर तथा अनुकूल–प्रतिकूल फलकी प्राप्तिमें सम रहो। इस प्रकार जो कर्म करोगे, उसका फल होगा भगवत्प्राप्ति।

हानि होनेपर दुःख उसीको होगा जो उस हानिको अपना मानेगा, जो उस घाटेमें अपनी हानि मानेगा, जिसका परमात्माके विधानमें विश्वास नहीं है। मान–अपमानमें, हानि–लाभमें, जय–पराजयमें, सुख–दुःखमें—इन सभी द्वन्द्वोंमें जो हमारे मनमें अनुकूल–प्रतिकूल भाव है। वह इस शरीरमें

ममता, वस्तुओंमें आसक्ति, शरीरमें अहंकृतिको लेकर है। योगस्थ होनेपर वह इन द्वन्द्वोंको देखेगा अवश्य और इन दोनोंको भगवान्‌की लीला मानेगा। लीलामें स्वाँगके अनुसार कर्म करेगा तो दुःख-सुख नहीं होगा।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥
(गीता २। ३८)

भगवान्‌में अविश्वास होनेके कारण ही मनुष्य अनुकूलतामें सुख और प्रतिकूलतामें दुःखकी भावना करता है। जिसका भगवान्‌में विश्वास है, वह मानता है कि भगवान्‌में चार बातें हैं—

१-भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं।
२-भगवान् सर्वज्ञ हैं।
३-भगवान् सर्वेश्वर हैं।
४-भगवान् हमारे परम सुहृद् हैं।

संसारमें जो कुछ घटित होता है वह भगवान्‌के नियन्त्रणमें होता है, उनकी देख-रेखमें होता है। इसलिये मंगलमय भगवान्‌की देख-रेखमें यदि हमारे लिये कोई दुःखका विधान आता है तो यह मानना होगा कि यह दुःखका विधान जो आया है, वह मंगलमय भगवान्‌के सौहार्द्रके साथ आया है। वे चाहें तो इसे मिटा सकते हैं, क्योंकि वे सर्वशक्तिमान् हैं। वे हानि समझते तो इसे हटा सकते थे, क्योंकि वे सर्वज्ञ हैं। वे यदि नहीं होने देते तो किसीकी सामर्थ्य नहीं कि होने देता, क्योंकि वे सर्वेश्वर हैं।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥
(गीता ५। २९)

भगवान्‌ने कहा कि मैं समस्त लोकोंका महेश्वर और सभी यज्ञों, तपोंका भोक्ता होता हुआ भी जीवमात्रका सुहृद् हूँ। इसलिये जो सुहृद् है उसके द्वारा हमारी बुराई नहीं हो सकती है। मनुष्यकी भलाई किसमें हैं, इसे वह नहीं जानता है। जैसे एक राजाने एक बन्दर पाल लिया। बन्दर राजाके साथ-साथ रहे और मक्खियाँ उड़ाता रहे। हमेशा पीछे-पीछे रहे और राजाकी बड़ी सेवा करे। राजाने बन्दरकी मूर्खतापर ध्यान न देकर उसके हितैषीपनको ही माना कि यह मेरा सुहृद् है। इस बुद्धिविहीनको राजाने एक कार्य दिया कि मैं सो रहा हूँ, तुम पहरा दो कि कहीं मच्छर न

काटे। बन्दर तलवार लेकर बैठ गया। थोड़ी देर बाद राजाके गलेपर मच्छर आकर बैठा। बन्दरने तलवार मारी जिससे मच्छर तो उड़ गया, लेकिन साथ ही राजाका गला भी कट गया। इस प्रकार यदि हमारा भला चाहनेवाला मूर्ख हैं तो क्या होगा ?

भगवान् हमारे सुहृद् होनेके साथ-साथ सर्वज्ञ हैं, परम बुद्धिमान् हैं तथा भगवान्में करनेकी चाहत है, इच्छा है। वे सर्वशक्तिमान्, सभी लोकोंके ईश्वरोंके ईश्वर हैं। उनका सबपर शासन है, उनपर कोई शासन नहीं कर सकता। ऐसे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सुहृद् भगवान् यदि कोई दुःख भेजते हैं (जिसे हम दुःख मानें) और यदि हमारा उन भगवान्पर विश्वास हो तो वह दुःख कहाँ, वह तो किसी महान् सुखका पूर्वसूचक है। यदि उस दुःखको दुःख मानें तो सुख टलने लगता है। सात्त्विक सुख भी पहले दुःख-सा मालूम पड़ता है। भगवान्ने गीतामें कहा है—

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्।।

(१८। ३७)

आत्मबुद्धिके प्रसादसे, भगवत्कृपासे जो सुख मिलता है वह आरम्भमें जहर-सा प्रतीत होता है, क्योंकि विषयोंका सुख मिटने लगता है। जब विषय हटते हैं तो मूर्ख दुःखी हो जाता है, क्योंकि मनके प्रतिकूल बात होने लगती है और ईर्ष्या, द्वेष, मोह करके अपनेको दुःखी मानने लगता है। परंतु बुद्धिमान् पुरुष दुःखी नहीं होता है। वह समझता है कि भगवान्के मनकी हो रही है। बहुत अच्छा है। भगवान् हमें अपना रहे हैं, इसलिये इन वस्तुओंका ममत्व हमसे छीन रहे हैं। जो आरम्भमें जहर मालूम पड़ता है, वह परिणाममें अमृततुल्य होता है। ऐसा सुख सात्त्विक सुख होता है। जो भगवान्का अविश्वासी है और भोगोंका गुलाम है, उसे ही संसारके हानि-लाभमें दुःख होता है, जबकि बुद्धिमान् पुरुष इसे संसारका खेल समझता है। जैसे नाटकमें यदि विभिन्न रसोंका प्राकट्य न हो तो वह सरस नहीं होता। एक भक्त कहता है—

देख दुःखका वेष धरे मैं नहीं डरूँगा तुमसे, नाथ !
जहाँ दुःख वहाँ देख तुम्हें, मैं पकडूँगा जोरोंके साथ।।
नाथ ! छिपा लो तुम मुँह अपना, चाहे अति अँधियारेमें।
मैं लूँगा पहचान तुम्हें इक कोनेमें, जग सारेमें।।

रोग—शोक, धन—हानि, दुख, अपमान घोर, अति दारुण क्लेश।
सबमें तुम सब ही है तुममें, अथवा सब तुम्हरे ही वेश।।
तुम्हरे बिना नहीं कुछ भी जब, तब फिर मै किस लिये डरूँ।
मृत्यु—साज सज यदि आओ, तो चरण पकड़ सानन्द मरूँ।।
दो दर्शन चाहे जैसा भी दुःख—वेष धारणकर, नाथ !
जहाँ दुःख वहाँ देख तुम्हें, मैं पकड़ूँगा जोरोंके साथ।।

सुख या दुःख किसी अवस्थामें दो भावना करें——यह भगवान् द्वारा किया हुआ मंगल—विधान है या इस वेशमें साक्षात् स्वयं भगवान् हैं।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।।
(गीता ६। २२)

भगवान् कहते हैं कि ऐसी स्थिति होती है कि इससे ऊँचा कोई लाभ नहीं होता है और उसमें स्थित जो पुरुष है, वह संसारके जो महान् दुःख हैं उनसे विचलित नहीं होता है। दुःखसे वे विचलित होते हैं जिनमें प्रतिकूल भाव होता है, अपनी वस्तुके नाशकी भावना होती है। वस्तुके नाश होनेकी आशंकामें भय होता है और नाश हो जानेपर शोक होता है। भय और शोकमें सारा संसार उलझा है, परंतु जो स्वस्थ है उसे मोह, भय और शोक नहीं होता है, क्योंकि उसका भाव रहता है कि सर्वत्र, सब अवस्थामें, सब स्थितिमें भगवान् हैं। जबतक स्वस्थ नहीं हैं, तबतक प्रत्येक अवस्था और प्रत्येक स्थितिमें ऐसी भावना करे कि जैसे बिना बुलाये दुःख आते हैं, ऐसे ही बिना बुलाये सुख भी आते हैं तथा दुःख और सुखरूपमें भगवान्का विधान ही रहता है। प्रत्येक व्यक्ति भगवान्से कुछ अपेक्षा न करे और प्रार्थना करे कि 'प्रभु ! मेरे मनमें कोई चाह पैदा न हो और यदि हो तो आपकी चाहके अनुकूल हो। जो आप चाहें मैं भी वही चाहूँ और कदाचित् मेरी चाह आपके चाहके प्रतिकूल हो तो उसे कभी पूरा न करें।' भगवान् मंगलमय हैं, परमहितैषी हैं, वह जो सोचते हैं वही उचित है। जैसे छोटा बच्चा आगमें हाथ डालना चाहता है, साँप पकड़ना चाहता है तो माँ जानती है कि यह इसके लिये उचित नहीं है और माँ उसे अलग कर देती है। इसी प्रकार भगवान् जो उचित होता है वही करते हैं। जिनके पास संसारके पदार्थ हैं उनपर हम भगवान्की कृपा मानते हैं और जिनके पास नहीं है उनपर भगवान्का कोप मानते हैं। भगवान्की कृपाका माप—तौल हम करते हैं,

काटे। बन्दर तलवार लेकर बैठ गया। थोड़ी देर बाद राजाके गलेपर मच्छर आकर बैठा। बन्दरने तलवार मारी जिससे मच्छर तो उड़ गया, लेकिन साथ ही राजाका गला भी कट गया। इस प्रकार यदि हमारा भला चाहनेवाला मूर्ख हैं तो क्या होगा ?

भगवान् हमारे सुहृद् होनेके साथ-साथ सर्वज्ञ हैं, परम बुद्धिमान् हैं तथा भगवान्में करनेकी चाहत है, इच्छा है। वे सर्वशक्तिमान्, सभी लोकोंके ईश्वरोंके ईश्वर हैं। उनका सबपर शासन है, उनपर कोई शासन नहीं कर सकता। ऐसे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सुहृद् भगवान् यदि कोई दुःख भेजते हैं (जिसे हम दुःख मानें) और यदि हमारा उन भगवान्पर विश्वास हो तो वह दुःख कहाँ, वह तो किसी महान् सुखका पूर्वसूचक है। यदि उस दुःखको दुःख मानें तो सुख टलने लगता है। सात्त्विक सुख भी पहले दुःख-सा मालूम पड़ता है। भगवान्ने गीतामें कहा है—

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥

(१८। ३७)

आत्मबुद्धिके प्रसादसे, भगवत्कृपासे जो सुख मिलता है वह आरम्भमें जहर-सा प्रतीत होता है, क्योंकि विषयोंका सुख मिटने लगता है। जब विषय हटते हैं तो मूर्ख दुःखी हो जाता है, क्योंकि मनके प्रतिकूल बात होने लगती है और ईर्ष्या, द्वेष, मोह करके अपनेको दुःखी मानने लगता है। परंतु बुद्धिमान् पुरुष दुःखी नहीं होता है। वह समझता है कि भगवान्के मनकी हो रही है। बहुत अच्छा है। भगवान् हमें अपना रहे हैं, इसलिये इन वस्तुओंका ममत्व हमसे छीन रहे हैं। जो आरम्भमें जहर मालूम पड़ता है, वह परिणाममें अमृततुल्य होता है। ऐसा सुख सात्त्विक सुख होता है। जो भगवान्का अविश्वासी है और भोगोंका गुलाम है, उसे ही संसारके हानि-लाभमें दुःख होता है, जबकि बुद्धिमान् पुरुष इसे संसारका खेल समझता है। जैसे नाटकमें यदि विभिन्न रसोंका प्राकट्य न हो तो वह सरस नहीं होता। एक भक्त कहता है—

देख दुःखका वेष धरे मैं नहीं डरूँगा तुमसे, नाथ !
जहाँ दुःख वहाँ देख तुम्हें, मैं पकडूँगा जोरोंके साथ॥
नाथ ! छिपा लो तुम मुँह अपना, चाहे अति अँधियारेमें।
मैं लूँगा पहचान तुम्हें इक कोनेमें, जग सारेमें॥

रोग–शोक, धन–हानि, दुख, अपमान घोर, अति दारुण क्लेश।
सबमें तुम सब ही है तुममें, अथवा सब तुम्हरे ही वेश।।
तुम्हरे बिना नहीं कुछ भी जब, तब फिर मै किस लिये डरूँ।
मृत्यु–साज सज यदि आओ, तो चरण पकड़ सानन्द मरूँ।।
दो दर्शन चाहे जैसा भी दुःख–वेष धारणकर, नाथ !
जहाँ दुःख वहाँ देख तुम्हें, मैं पकड़ूँगा जोरोंके साथ।।

सुख या दुःख किसी अवस्थामें दो भावना करें––यह भगवान् द्वारा किया हुआ मंगल–विधान है या इस वेशमें साक्षात् स्वयं भगवान् हैं।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।।
(गीता ६। २२)

भगवान् कहते हैं कि ऐसी स्थिति होती है कि इससे ऊँचा कोई लाभ नहीं होता है और उसमें स्थित जो पुरुष है, वह संसारके जो महान् दुःख हैं उनसे विचलित नहीं होता है। दुःखसे वे विचलित होते हैं जिनमें प्रतिकूल भाव होता है, अपनी वस्तुके नाशकी भावना होती है। वस्तुके नाश होनेकी आशंकामें भय होता है और नाश हो जानेपर शोक होता है। भय और शोकमें सारा संसार उलझा है, परंतु जो स्वस्थ है उसे मोह, भय और शोक नहीं होता है, क्योंकि उसका भाव रहता है कि सर्वत्र, सब अवस्थामें, सब स्थितिमें भगवान् हैं। जबतक स्वस्थ नहीं हैं, तबतक प्रत्येक अवस्था और प्रत्येक स्थितिमें ऐसी भावना करे कि जैसे बिना बुलाये दुःख आते हैं, ऐसे ही बिना बुलाये सुख भी आते हैं तथा दुःख और सुखरूपमें भगवान्का विधान ही रहता है। प्रत्येक व्यक्ति भगवान्से कुछ अपेक्षा न करे और प्रार्थना करे कि 'प्रभु ! मेरे मनमें कोई चाह पैदा न हो और यदि हो तो आपकी चाहके अनुकूल हो। जो आप चाहें मैं भी वही चाहूँ और कदाचित् मेरी चाह आपके चाहके प्रतिकूल हो तो उसे कभी पूरा न करें।' भगवान् मंगलमय हैं, परमहितैषी हैं, वह जो सोचते हैं वही उचित है। जैसे छोटा बच्चा आगमें हाथ डालना चाहता है, साँप पकड़ना चाहता है तो माँ जानती है कि यह इसके लिये उचित नहीं है और माँ उसे अलग कर देती है। इसी प्रकार भगवान् जो उचित होता है वही करते हैं। जिनके पास संसारके पदार्थ हैं उनपर हम भगवान्की कृपा मानते हैं और जिनके पास नहीं है उनपर भगवान्का कोप मानते हैं। भगवान्की कृपाका माप–तौल हम करते हैं,

संसारके पदार्थोंको लेकर! यही महाभ्रम है। संसारके जो पदार्थ ममता और आसक्ति बढ़ानेवाले हैं वे वास्तवमें पदार्थ नहीं विष हैं, वे त्याज्य हैं। शास्त्रोंमें कहा गया है—'विषयान् विषवत् त्यज'। उन पदार्थोंमें ममता और आसक्ति करके जो सुख प्राप्त करना चाहता है वह माने–न–माने भ्रममें है। दुःखका पूर्वरूप उसके सामने है। अतः भगवान्‌की कृपा न उनके आनेमें है न जानेमें है। वस्तुएँ आयें उनका विरोध नहीं, परंतु जब आयें तो भगवान्‌में विश्वास करके यह समझें कि भगवान्‌ने हमें सेवाका कार्य सौंपा है। इन पदार्थोंका भगवान्‌ने हमें ट्रस्टी बनाया है, जिनके द्वारा हमें सेवा करनी है। इनको अपना न माने। सम्पत्ति भगवान्‌की और हम उनके नौकर। भगवान् जब जैसा चाहते हैं, वैसा कार्य सौंपते हैं। तथा यदि वस्तुएँ जायें तो माने कि प्रभु अपने पास बुलानेके लिये ये वस्तुएँ हमसे छीन रहे हैं। जब भगवान् सभी चीजोंको छीन लें तब समझे कि अब आनन्द है, भगवान् अपने पास बुला रहे हैं। उसमें भ्रम न माने। भ्रम होनसे तो भोग हो जायगा।

भगवद्भजनरूपी धन जिसके पास है वही वास्तवमें धनवान् है—

कबिरा सब जग निरधना धनवंता नहिं कोय।
धनवंता सोई जानिए जाके राम नाम धन होय॥

भजनरूपी धन ही दैवी सम्पत्ति है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है कि दो प्रकारकी सम्पत्ति होती है। जिनके पास भगवद्‌गुण हैं, उनके पास दैवी सम्पत्ति है और जिनके पास विषय–ही–विषय हैं, वह आसुरी सम्पत्तिवाला है। आसुरी सम्पत्तिवालेको बन्धन होता है और दैवी सम्पत्तिवालेको मोक्ष होता है। जिसके पास संसारके वैभव हैं और वह इन वैभवोंमें आसक्त नहीं है तथा उनपर अभिमान नहीं करता और सारे भोगोंको भगवान्‌का मानकर जीवनमें लगाता है वह धन्य है। जिसके पास वैभव नहीं है, वह और भाग्यवान् हैं, क्योंकि उसके पास संसारमें आसक्ति, ममताके पदार्थ नहीं हैं। जहाँ आदर, सम्मान, ममता, आसक्ति अधिक होती है तो व्यक्ति उसीमें फँसा रहता है। इसलिये भक्त प्रार्थना करते हैं कि भगवान् मुझे ऐसा बना दो, जिससे कोई आशा अपेक्षा न करे। कोई स्वार्थ–साधनका मतलब न रखे ताकि चुपचाप भगवान्‌का भजन करता रहूँ—

'आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्'

जगत्‌के भोगोंमें सुखकी आशा ही जीवनके अन्तिम क्षणतक मारे डालती है। जिससे भगवान्‌को भूलते हैं, यह बड़ा भारी प्रमाद है। जो कार्य

करना है उसे न करे और जो नहीं करना है उसे करे इसीको प्रमाद कहते हैं। प्रमाद मृत्यु है। संसारमें एक ही कार्य है जीवनको भगवान्‌के लिये बनाकर उनकी सेवामें लगाना ताकि अपनी प्रत्येक क्रिया भगवान्‌के लिये हो। अपना कुछ कर्म रहे ही नहीं।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव।।

(गीता ११। ५५)

भगवान् कहते हैं—'हे अर्जुन ! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको करनेवाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंमें वैरभावसे रहित है, वह अनन्य भक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है।'

इस प्रकार संसारकी सारी सम्पत्ति, सारा कार्य भगवान्‌का। हमें तो सिर्फ सेवा करनी है। किसी भी तरह न सुखकी चाह करे, न दुःखकी परवाह करे। न सुख आनेपर सुखी हो, न दुःख आनेपर दुःखी हो। बस, भगवान्‌के प्रत्येक मंगलमय विधानको या तो देखे या स्पर्श प्राप्त करके नित्य जगत्‌में सुखी रहे। भगवान्‌के विधानको मनुष्य अपने दुःखी होने और क्रोध करनेसे बदल नहीं सकता, बल्कि अपने अंदर द्वेष पैदा होगा और यह द्वेष नरकमें ले जानेवाले कर्म करा देगा। द्वेषवश, ईर्ष्यावश, वैरवश, क्रोधवश, आसक्तिवश हमारा मन कहीं होगा, क्रिया कहीं होगी। जहाँ तन, मन, वचन बिगड़े वहाँ मनुष्य गिरा। अतः तन, मन, वचन—तीनोंको भगवान्‌में लगाये रखे। तनसे भगवान्‌की सेवा और मनसे भगवान्‌का नित्य-चिन्तन। वाणीसे भगवान्‌का गुणगान, नामगान इससे रहित सभी क्रिया व्यर्थ ही है। एक बूढ़ा व्यक्ति था। कुछ दिनोंमें उसे समझ आयी और भगवत्परायण हुआ तो एक आदमीने उससे पूछा कि आपकी कितनी उम्र हो गयी तो उसने कहा, दो-तीन वर्ष। फिर पूछा, आपके पास कितने रुपये होंगे, जवाब मिला चार-पाँच हजार। उस आदमीने कहा कि यह बूढ़ा होकर भी अपनी उम्र दो-तीन वर्ष बताता है और लाखों रुपये रखकर भी चार-पाँच हजार बता रहा है, कितना झूठ बोलता है। तो बूढ़ा बोला, मै झूठ नहीं बोलता। अभी दो-तीन वर्षसे ही भगवान्‌की ओर मन लगा है, बाकी तो यूँ ही बीत गया तथा जीवनमें चार-पाँच हजार रुपये ही भगवान्‌के काममें लगे हैं, बाकी तो व्यर्थ ही हैं। खर्च हुए तो व्यर्थ, रहे तो व्यर्थ।

जो समय भजनके बिना बीता वह बेकार हो गया—'बीत गये दिन भजन बिना रे' अब पश्चात्तापसे क्या फायदा ! जो श्वास गयी वह गयी, अब शेष भगवान्‌को सौंपकर उन्हींका भजन करे। ममताको न आने दे, ममता ही रुलाती है।

तुलसी ममता राम सों, समता सब संसार।

भगवान्‌में ममता हो जाय और उनकी कृपा लेकर संसारमें समता हो जाय, फिर आनन्द–ही–आनन्द है। अन्यथा यहाँकी वस्तुओंको अपना मानकर जो मरता है वह बहुत ही कष्ट पाता है। आसक्तिसहित मरनेपर व्यक्ति प्रेत होता है और प्रेत होनेपर जहाँ–जहाँ आसक्ति रहती है, वहाँ–वहाँ वह भटकता है। प्रेत–योनिमें स्मृति बनी रहती है, जिससे वह देखता है कि अमुक वस्तु मेरी थी, अमुक मेरा सगा था और उसके दुःखसे दुःखी होता है। उसके सुखसे सुखी होता है। उनके वैरको वैर मानता है एवं उनके द्वेषको द्वेष मानता है। परंतु कर कुछ नहीं सकता, क्योंकि उसका वश नहीं चलता है। इसीलिये कहा गया है कि भगवान्‌का भजन करते रहें। जिससे अन्तकालमें भगवान्‌का नाम आ जानेसे मुक्ति मिल जाय। अर्जुनने जब भगवान्‌से अन्तकालकी बात पूछी तो भगवान्‌ने कहा—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः।।

(गीता ८। ५)

अन्तकालमें जो मेरा स्मरण करके शरीर–त्याग करता है, उसे मेरी ही प्राप्ति होती है, इसमें संशय नहीं है। अर्जुनने सोचा कि अन्तकालमें स्मरण कर लेंगे, जीवनभर मौज कर लें। तब भगवान्‌ने दूसरी बात कही—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।।

(गीता ८। ६)

यह नियम है कि जिस–जिसमें मन रखकर आदमी मरता है उसे उस–उसकी प्राप्ति होती है। आदमी जीवनभर जिसका स्मरण किया है, अन्तकालमें उसीकी याद आती है। सहज या अकस्मात् आना बड़ा मुश्किल है। फिर अर्जुन बोले कि भगवन् ! तब क्या करे ? तो भगवान्‌ने कहा—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ।।

(गीता ८। ७)

इसलिये अर्जुन ! सर्वकालमें मेरा स्मरण करते हुए युद्ध करो। स्मरण करते रहोगे तो मृत्यु जब आयेगी तो तुम निःसंदेह मुझे प्राप्त करोगे। अतः यह आवश्यक है कि जीवनमें भगवन्नाम—जप नित्य—निरन्तर होता रहे। क्योंकि अन्तकालमें भगवान्‌के नामजपसे यमराजका वश नहीं चलता है। अन्तकालमें भगवान्‌का स्मरण अभ्यास रहनेपर ही होगा।

जन्म जन्म मुनि जतनु कराहीं।
अंत राम कहि आवत नाहीं।।

मुनि भी हैं, ज्तन भी करते हैं, पर भजन—परायण न होनेसे अन्तमें भगवान्‌का स्मरण नहीं होता है। इसलिये जीवन थोड़ा है और भगवान्‌का नाम निरन्तर लेना चाहिये। सोते हुए भी जीभसे भगवान्‌का नाम लेता रहे और मनसे भगवान्‌का चिन्तन करता रहे। जीभसे जितना भगवान्‌का नाम लिया जाय, उसीमें जीभकी सार्थकता है। जीभसे कहे कि 'रसने ! तू तो रसके सारको जानती है, रसको चखती है। तुम्हींको मीठा महसूस होता है, तब यह राम—नाम तो अमृत है——इसे ही पी।' एक भक्तने कहा कि जीभ अपने पास है और 'राम' नाम है, फिर भी लोग नरकोंमें जाते हैं। यह बड़े आश्चर्यकी बात है। इसलिये भगवान्‌का नाम लेना चाहिये और संसारके प्रलोभनमें, मैं—मेरा, तू—तेराके चक्करमें न रहे। जिसके पास जो है वह रखे पर मनमें ममता न रखे। मृत्युसे पूर्व निष्किञ्चन हो जाय। ममता मनमें ही रहती है। जहाँ ममता नहीं होती है, वहाँ वैर—द्वेष नहीं होता, बुरा करने और बुरा चाहनेकी प्रवृत्ति नहीं होती है। ममता रहनेपर यह सभी होते हैं यह स्वाभाविक है। जहाँ राग होता है वहीं द्वेष होता है और राग—द्वेषसे दैवी सम्पदाका ह्रास होता है। राग अगर न मिटे तो राग भगवान्‌से करना चाहिये एवं द्वेष भगवत्—विमुखतासे। दुर्गुणोंको सद्‌गुणकी सेवामें लगा दें तो सारे दुर्गुण सद्‌गुण हो जायेंगे। कहते हैं जब भगवान्‌की कृपा होती है तो अग्नि शीतल हो जाती है। शत्रु मित्र हो जाते हैं और दुःख सुख हो जाता है। यह सब अपने—आप हो जाता है, जब हम मनसे अपने—आपको भगवान्‌के साथ सम्पर्क जोड़ लेते हैं। न मालूम कब मृत्यु हो जाय, इसलिये हम भगवान्‌के हो जायँ तो सभी चिन्ता समाप्त हो जायगी——

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ।।

(गीता १६। १६)

जबतक हम भोगोंमें अत्यन्त आसक्त हैं, तबतक नरकोंमें गिरते रहेंगे। हमारे हृदयमें विषयोंकी आग जलती रहती है, पर इसको शान्त करनेका जल भी अंदर ही है। शान्तिका अमृत हमारे अंदर है—

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति।।
(गीता २। ७१)

जबतक हम संसारके भोगोंके दास बने हैं तभीतक यह अशान्ति है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

बिगरी जनम अनेक की सुधरै अबहीं आजु।
होहि रामको नाम जपु तुलसी तजि कुसमाजु।।

कुसंगका त्याग करके भगवान्‌के नामका जप करे और भगवान्‌का हो जाय। अपनी सारी ममता भगवान्‌को सौंपकर अपनेको भगवान्‌का बना दे। भगवान्‌को अपना बना ले। रहे वहीं, घर वही, द्वार वही, काम वही, सब वही, परंतु जगत्‌के भोगोंका दास होनेकी जगह भगवान्‌का दास हो जाय और अपनेको भगवान्‌के चरणोंमें सौंप दे। बदलेमें भगवान् हमें अपने–आप मिल जायँगे। जिन्हें हमने अपना मान रखा है वे सभी धोखा देंगे, पर भगवान् मरनेके बाद भी साथ जायँगे। वे अलग नहीं होंगे, वे तो नित्य साथ रहते हैं। भगवान्‌को साथ रखना चाहिये और जो धोखा देनेवाले हैं, उन्हें पहले ही छोड़ दे। अगर इनका संग करे, इनसे प्रेम करे तो भगवान्‌की सेवाके लिये ही करे। अपने अधिकारका त्यागकर दूसरेके अधिकारकी रक्षा करे। अपने लिये न्याय बरते, दूसरेके लिये उदारता बरते। इस भावसे संसारमें रहे तो परम कल्याण होगा।

जो लोग भगवत्–चरण–विमुख हैं, उनका जीवन नरकरूप है। 'ते नर नरक रूप जियत जग, भय भंजन पद विमुख अभागी' वे स्वयं रात–दिन नरककी आगमें जलते हैं और आस–पास आनेवालेको भी जलाते हैं। इसलिये जगत्‌में आशा, चाह त्यागकर जीवनको सार्थक बनायें।

चाह गई चिंता गई मनवाँ बेपरवाह।
जिसको कछु नहिं चाहिए सोई जग शाहंशाह।।

इसलिये बस भगवान्‌के नामका जप करें। भगवान्‌का स्मरण करें। अपने जीवनको, जीवनके पदार्थोंको, जीवनके समयको भगवान्‌की सेवामें लगाकर इसे सार्थक करें। धन्य करें।

———०———

सत्संग–प्रसाद
(प्रवचनोंकी सार बातें)

साधनाके तीन प्रकार होते हैं—गौण, मुख्य और अनन्य। जबतक मुख्यता नहीं होती तबतक साधन शिथिल चलता है और दूसरेके द्वारा हटाया भी जा सकता है। मन अनन्त जन्मोंसे भोगोंमें रमनेका अभ्यासी हो गया है। हम कहते हैं, सुनते हैं कि सुख भोगोंमें नहीं है पर मन कहता है सुख है। भोग प्राप्त होनेपर तुरन्त मनको दबा लेता है। गौण साधनामें भगवान्के नामपर भी जान या अनजानमें भोग आ जाते हैं। अथवा छिपे रहकर हमारी पूजा भोग स्वीकार करते हैं भगवान्को नहीं करने देते।

मुख्यतामें मन और तन दोनोंको लगा देनेकी आवश्यकता है। भोगोंमें ऐसी मोहकता कि वे मनको खींच लेते हैं। इसलिये जहाँतक हो सके शरीरको भी भोगोंसे अलग रखे। अर्जुनकी अलग बात पर जहाँ कर्म बाहुल्य है वहाँ यह स्मरण रहना भी कठिन हो जाता है कि हमें भजन भी करना है। हमारे एक मित्र कर्म बाहुल्यमें फँस गये तो वे खुद बोले कि इतने कामोंमें फँस गया कि अब भजन बनता नहीं। कर्म बाहुल्यतासे रजोगुण आता है। प्रवृत्ति रजोगुणका स्वरूप है। दिन–रात कर्म चेष्टामें ही बीत जाते हैं, भजन कर नहीं सकता। साधन न छूटे यह मुख्यता है। मुख्यताका अर्थ है कुछ समय ऐसा निकालना ही चाहिये जब केवल साधनकी बात सोचे। लोग कहेंगे काम बिगड़े तो ? जिसका भजनमें अधिक मन रहता है उसकी बुद्धि शुद्ध हो जाती है इसलिये काममें बाधा नहीं आती। कब तेजी आयेगी और कब मन्दी—इसका निर्णय बुद्धि ही करती है। जब बुद्धि भोगोंमें रहती है तो ठीक निर्णय नहीं कर पाती। पर यदि नुकसान होता भी हो तो साधकको तो भगवान् और भोग दोनोंमेंसे एकको चुनना है। भगवान्की स्मृतिमें यदि कोई भोग जाता है तो साधक उसकी परवाह नहीं करता। बिना मुख्यता आये आगे बढ़ नहीं सकता। मुख्यता आनेसे ही साधकको आनन्दकी झाँकी होने लगती है। फिर सब पदार्थ फीके पड़ जाते हैं। फिर मुख्यता अनन्यतामें परिवर्तित हो जाती है और इच्छामें तीव्रता आ जाती है।

अनन्य साधन जहाँ हुआ भगवान् तो मिले हुए हैं वह तो केवल चाह देखते हैं। उसका साधन इसी जन्ममें बहुत शीघ्र सिद्ध हो जाता है।

फिर भगवान् उसके हो जाते हैं। प्रेमकी भाषामें नित्य संयोग होनेपर भी संयोग और वियोगकी लीलाएँ चलती रहती हैं।

आज जो पद हुआ—'तुम सो निठुर दूजो कौन'—वह उद्धवजीका कहा हुआ है। उद्धवजीने एक रूप तो यह देखा कि भगवान् गोपांगनाओंसे अलग हुए ही नहीं। दूसरा रूप यह देखा बड़ा कठोर कि राधाजीका शरीर वियोगकी आगसे दग्ध हो गया, कृष हो गया है। राधाजीका मलिन वस्त्र पहने क्षीण काय है। उद्धवजीने कहा तुम इतने निर्दय हो। तब भगवान्ने दिखाया कि मेरा सारा शरीर गोपियोंसे ही बना है।

भगवान् न मिलनेपर किस प्रकारकी ज्वाला जलनी चाहिये यह भी साधनाका एक स्वरूप है। ऐसी आग जल उठे जो कभी बुझे ही नहीं तो उसी आगमेंसे भगवान् प्रकट हो जाते हैं।

कर्मोंका समर्पण भगवान्में तीन प्रकारसे होता है। १—एक तो कर्म करके उनके समर्पणको २—उनके लिये ही कर्म करें और ३—वह कर्म करता नहीं भगवान् ही उसके द्वारा कर्म कराते हैं।

प्रेमी उनके लिये ही कर्म ही करता है। भगवान्में एक स्वाभाविक दया है कि वे अभिमानको रहने नहीं देते। अभिमानीके साथ वे द्वेषका बर्ताव करते हैं।

लौकिक, पारलौकिक भोग वासनाओंको सर्वथा त्याग दें। भगवान्की पूजाकी सामग्री बनकर तो भोग भले ही रहें अन्यथा नहीं।

इसलिये भोग और कर्मका स्वरूपसे त्याग हो और भोगमें और कर्ममें आसक्तिका भी त्याग हो तब साधना आगे बढ़ती है।

•

असलमें निंदा किसीकी भी नहीं करनी चाहिये। निंदनीय यदि कुछ है तो अपने दोष, अपने पाप हैं। मनुष्य ठीक ठिकानेसे अपने दोष देखने लगे तो शायद ही किसीके दोष दीखे और शायद ही अपनेसे ज्यादा दोष किसीके दीखे। भीतरी दोष खुदको ही दीखते हैं। संतको पराया दोष तो दीखता नहीं और अपना जरा–सा दोष बहुत बड़ा दीखता है। साहस हो तो अपने दोषोंकी निंदा करनी चाहिये। पहले तो हमने दूसरे घरमें पड़े मैलेको बटोरा और फिर बिखेरा—यह है दूसरेके दोष देखना और दूसरेको कहनेका स्वरूप। दोषोंकी चर्चा करनेवाला दोषोंका वितरण करता है। जिस चीजका हम बार–बार चिंतन करेंगे, चर्चा करेंगे वह हमारे अन्दर आ

जायेगी। आगेका जीवन पापमय हो जाता है। दोष देखनेकी यदि आदत पड़ गई तो उसकी आँखें दोषमयी हो जाती हैं। ऐसा मनुष्य संत और भगवान्में भी दोष देखता है। ऐसे मनुष्य द्वेष करने लगते हैं। सुधारका ठेका भगवान्पर छोड़ देना चाहिये। पहले अपने दोष निकालकर अपनेको सुधार लो फिर चाहे दूसरोंके दोष देखे। दूसरेके दोषोंको दूर करना हो तो उसके दोषोंका बखान मत करो, उससे प्यार करो, उसके गुण ढूढ़ो और गुणोंकी सच्ची तारीफ करो। तो वह समझेगा कि यह मेरा है तब फिर उसे एकांतमें प्यारसे समझाओ। हृदयका परिवर्तन होता है सद्भावसे, सेवासे, दण्डसे नहीं। संतका तो यह स्वभाव होता है कि बुरा करनेवालेका भी भला करता है। बहुतसे दोष तो अपनी दोषभरी आँखसे दीखते हैं। अपने मनके दोष अपनी आँखमें आ जाते हैं और वहीं दूसरेमें दीखते हैं। चोरको सब चोर और साधुको सब साधु दिखते हैं। भक्तके तो वाणीके लिये एक ही काम बच जाता है भगवान्के गुणों, नामका गुणगान करना। दूसरेके सुधारनेकी जो बात आती है वह बहुत बार अपने दोषोंको छिपानेके लिये आ जाती है। भलाईके लिये बुराईका बहाना न ले। अच्छे उद्देश्यसे भी बुरा काम न करे। अच्छा उद्देश्य तो छूट जाता है और बुराई जीवनमें छा जाती है। नये दोष तो आने ही न दे और पुरानेको भी खुराक दे नहीं। दोषोंको क्रिया रूपमें न आने देना ही उनकी खुराक बन्द करना है।

दूसरेके दोषोंको निकालना हो तो भगवान्से प्रार्थना करे। अपने सद्गुणोंके द्वारा उनपर सद्व्यवंहारका प्रभाव डाले। भगवान् इससे बहुत राजी होते हैं। जीवनको भजनमें इतना लगाये रखे कि इन चीजोंके लिये फुरसत ही न मिले। समय बहुत बेकार जाता है। भगवान्में लगनेकी लगन हो जाय तो दोष अपने आप चले जायेंगे। मुँह भगवान्की ओर होनेसे जगत्की चीजें दीखेगी ही नहीं। जीवनको सेवामें नियुक्त कर दे और यह करना पड़ेगा, नहीं तो शान्ति मिलेगी नहीं। अभी भगवान्से मिलनेका अवसर मिला हुआ है।

साधनाका अर्थ है जो लक्ष्य प्राप्त करना चाहते हैं उसके अनुकूल मार्गपर चलना। मार्ग सबके लिये एक नहीं होता। रुचि, अधिकार सबके अलग-अलग होते हैं। यह सत्य है बहुत-सी बातें एक साथ सुननेसे मतिभ्रम होता है। क्या करें ? वास्तवमें सबका सामन्जस्य करना है। जहाँ सच्ची निष्ठा है वहाँ न बहुत सुननेकी आवश्यकता है न मार्ग बदलनेकी।

आवश्यकता है चलनेकी। समन्वय इस तरहसे कर सकते हैं कि बहुत–सी बातें तो अलग–अलग नामसे एक ही साधन बताया जाता हैं—–वह साधन है मन, वाणी, इन्द्रियोंको भगवान्‌में लगाये रखना या इनका निग्रह। नींव यदि मजबूत न हो तो साधनाका महल ढह सकता है। हिंसाके तीन प्रकार हैं, करे, करावे या अनुमोदन करे। यही बात सब पापोंके लिये है। निरन्तर सावधान रहे कि मन, वाणी, शरीरसे किसीका भला करनेका मौका ढूँढ़ना। मनुष्यका यह दुर्भाग्य है कि वह दूसरेके दुखमें जरा–सा भी सुखका अनुभव करता है। साधकमें तो यह होता ही नहीं, अच्छे मनुष्यमें भी नहीं होना चाहिये। द्रवता असली तब मानी जाती है.जब वह क्रियाशील हो जाय। उचित तो है अपना त्याग करके उसका भला कर दे। जो साधक भगवान्‌की पूजा करता है और दूसरोंका बुरा करता है उससे भगवान् प्रसन्न नहीं होते। जो अच्छा कर सकता है वह करे। अहिंसाके बाद दूसरा है सत्य। सत्यके पालनके लिये बड़ी–से–बड़ी चीजका त्याग करनेको तैयार रहना। आजका युग मिथ्या युग है। सत्यको कहनेवाले लोग भी दुर्बलतावश असत्यका आश्रय लेते हैं। मिथ्याको सत्यके आसनपर बैठाकर गौरव बोध करते हैं। साधक सत्यका पालन परमावश्यक रूपसे करे। बुरी चीज पहले तो परिस्थितिवश आती है फिर स्वभाव बन जाता है। तीसरी चीज है अस्तेय। मेरे देखनेमें कई बातें आई। पहले भाव रहता था पराई चीज घरमें न आ जाय। इसका बड़ा ध्यान रखते थे। चोरीका धन ठहरता नहीं। कुछ दिनों बाद वह पहलेके धनको भी ले जाता है। दूसरा उससे बुद्धि विकृत हो जाती है। साधकको चाहिये कि अपना जीवन–निर्वाह बहुत सादगीसे कर ले लेकिन चोरी करके अन्न न खाये। संन्यासी हमारा अन्न खाकर बिगड़ते हैं। अन्नसे मन बनता है।

मन, वाणी, शरीरसे ब्रह्मचर्यका पालन करे। संग्रह न करे। सालमें ४ धोती चाहिये तो १० धोती क्यों रखें। साधकके पास तो अपनी सामग्री कम–से–कम होनी चाहिये। उठाया अपना झोला और चल दिया। संग्रहका स्वभाव कभी न बनाये। जितना हो सके संग्रह कम–से–कम रखे। भगवद्‌विश्वासी तो संग्रही होता ही नहीं। संग्रह साधकके लिये बड़ा विघ्न है। पहले तो बटोरो फिर रक्षा करो।

ये ५ बातें साधनाकी नींव है।

फिर ५ नियम हैं। शौच–शुद्धि दो तरहकी होती है। बाहरकी और

अन्दरकी। अशुद्ध अवस्थामें प्रेत आदि आनेका डर रहता है। बाहरकी शुद्धि जल, मिट्टी, गोबर, गोमूत्र होती है। दूसरी चीज है सन्तोष। सबसे बड़ा सुख प्राप्त करना है तो सन्तोष करो। जैसे भगवान् रखना चाहते हैं उसीमें सन्तोष रखे। इससे मन भजनमें लगने लगेगा। तीसरा है तप। साधनके लिये कष्ट सहना। बिना कष्ट सहे संसारका कोई काम नहीं होता। तपस्वीका शरीर और मन वशमें रहता है। बीमारीको तप मान ले तो दुख नहीं होगा। तितिक्षाके बिना साधक आगे नहीं बढ़ता।

चौथा है स्वाध्याय—अच्छे ग्रंथोंका अध्ययन और नामका जप। ५ वाँ नियम है—शरणागत हो जाय। इससे मन भी वशमें हो जायगा। फिर भगवान् जिम्मा ले लेते हैं।

यह सबको करना है। फिर आगेका रास्ता भगवान् अपने आप कर देंगे। सुनी हुई बातें जीवनमें उतारनेकी चेष्टा करिये।

•

भक्तोंके चरित्र ही अनुकरणीय होते हैं। उनका जितना चिन्तन, मनन किया जाय उतना ही मंगल है। भगवान्‌को प्रेम प्रिय है किसी वस्तु व्यक्तिसे वे नहीं रीझते। असलमें जगत्‌में कोई वस्तु या अवस्था प्राप्त करने योग्य है तो वह भगवत्प्रेम ही है। भोगासक्ति भगवत्प्रेमकी ओर जाने नहीं देती। विवेकको छाये रखती है। मनुष्यमें विवेक है पर इसे यदि खो दे या तामसी वृत्तिसे बुरेको भला मानने लग जाय तो उसे दुःख, अशान्ति आदि मिलने लग जायेंगे। इस समय देशमें बुद्धिहीन बुद्धिमानोंकी भरमार हो रही है।

भगवान्‌से या तो माँगे नहीं, माँगे तो यह कि आपके मनकी हो। इसके विपरीत मेरे मनमें कुछ आये तो आप पूरी न करना। हम लोग दूरदर्शी नहीं हैं। भगवान् जब विशेष कृपा करते हैं तो उसे जागतिक असफलता देते हैं। वे जिसमें हित होता है वही करते हैं। कृपा पहले तो धन हर लेती है। दूसरी बात किसी कामको सफल नहीं होने देती, तीसरी बात घरवाले फिर उसे निकाल देते हैं तब वह किसी संतके पास जाकर आश्रय लेता है। पर सबको एक जैसी दवा नहीं देते। जैसा रोग होता है, वैसी ही दवा देते हैं। सांसारिक उन्नति मनुष्यके विकासका चिह्न नहीं है। जीवनकी गति भगवान्‌की ओर कर देना ही पहला काम है। आज तो भगवान्‌का स्थान भोगने ले लिया है, ले रहा है। आज तो घर–घरमें लड़ाई

है वह केवल अर्थ और अधिकारको लेकर है। हम अध्यात्मके क्षेत्रमें भी भोग दृष्टिसे सोचते हैं। जरूरतको तो हम जितना बढ़ा लें उतनी ही बढ़ जायेगी। एक अभावकी पूर्ति दस नये अभाव पैदा कर देती है।

प्रत्येक भोग–दो बात कहता है—हम अपूर्ण हैं और विनाशी हैं। आवश्यकताओंको तो विवेकसे ही कम करना पड़ेगा। मनमें भोगकी गुलामी आ गयी है। अनुकूल बातोंसे मन हट जाना चाहिये, प्रतिकूल बातोंसे मन उपेक्षित हो जाना चाहिये। छोटी–छोटी बातोंमें अपनेको देखता रहे कि जीवनकी गति किस ओर जा रही है। अपने द्वारा किया बुरा और दूसरेका किया भला याद रखे और दूसरेके द्वारा किया बुरा और अपना किया भला भूल जाय। जहाँ भी द्वेष बुद्धि रहती है उसके शरीर, मस्तिष्कपर उसका जरूर असर पड़ता है। अपने लाभके लिये द्वेषका त्याग करो अपनेको छोटेसे पतनसे भी बचायें। भगवान् उसकी रक्षा करेंगे। मिलनेवालोंमें ९८ प्रतिशत संसारके दुःखसे दुःखी मिलते हैं और वह दुःख उनका अपना बुलाया हुआ रहता है।

•

बार–बार हमलोग यह बात कहते–सुनते हैं कि हम मनुष्य हैं। मनुष्यताका आरम्भ होता है तब जब हम भगवान्‌की ओर बढ़ना प्रारम्भ करते हैं। यह भोग योनी नहीं है। यह मोक्षका द्वार है।

"जो न तरे भवसागरहि नर समाज अस पाय"

बहुत गम्भीरतापूर्वक सोचकर अपने कर्तव्यका निर्णय करना चाहिये। इस मनुष्य शरीरका एक बहुत बड़ा खतरा भी है। यह कर्म योनि है। कर्म करनेमें स्वतन्त्रता है। अतः उन कर्मोंको करे जिनसे भगवत्प्रेमकी प्राप्ति हो। यदि वह ऐसे कर्म करे जिससे भोगोंमें आसक्ति बढ़े तो बड़े खतरेकी बात है। उसे ५ चीजें मिलती हैं—(१) अशान्ति—चाहे अरबपति हो जाय पर शान्ति नहीं मिलेगी। (२) अत्यन्त चिन्ताओंसे ग्रस्त रहेगा। (३) जहाँ भोगकामना है वहाँ वह पापसे बच नहीं सकता। (४) भोगकामी मृत्युसमयमें अत्यन्त दुःखी होगा और मरनेके बाद। (५) घोर नरकोंकी प्राप्ति। बार–बार आसुरी योनिमें जाता है।

यह मनुष्य शरीर जैसे मोक्षका द्वार है वैसे नरकका द्वारा है। काम, क्रोध ओर लोभ ये नरकके दरवाजे हैं। अतः सबसे पहले अपने कर्मोंका सुधार करना है। किसी प्रकार हो भजनमें लग जाय। भोग कामना नहीं भी

छूटी हो तो भोग भगवान्से माँगे। भगवान् उसे भोग तब देंगे जब वे देखेंगे कि इससे अनिष्ट नहीं होगा।

"अन्य कामी यदि करे कृष्णेर भजन ...."

डरियेगा नहीं भागवतमें आया है मैं जिसपर कृपा करता हूँ पहले उसका धन धीरे–धीरे हर लेता हूँ। दूसरे जो भी विषय प्राप्तिके लिये साधन करेगा उसे सफल नहीं होने दूँगा। तीसरी कृपा सब घरवालोंका स्नेह हटा दूँगा। फिर चौथी असली कृपा जब वह असफल हो जायेगा तब मेरे भक्तोंका आश्रय मिलेगा। वहाँ मेरी भक्ति मिलती है। सबके लिये एक जैसा विधान नहीं होता।

भगवत्प्राप्तिमें दो तरहके साधन होते हैं। एक मार्ग है वैराग्यका दूसरा है रागका। भगवान्में राग करके भोगोंमें विराग करें। पहले होता है विश्वास फिर उनकी कृपा प्राप्त करनेकी इच्छा पैदा होती है अपनी दीनता देखकर। अपना दैन्य और भगवान्की कृपापर विश्वास करनेसे शरणागति होती है। गीताके १८ वें अध्यायका नाम है—मोक्ष संन्यास योग। उसमें श्रेष्ठतम, परम गुह्यतम बात कही—मामेकं शरण व्रजः। उसका फल अर्जुनको मिला सेवाधिकार आयुध बनकर। शरणागतिके बाद होता है पूर्ण समर्पण। उसीका नाम है भगवत्प्रेम। वहाँ दैन्य तो है पर भगवान्को प्रेमास्पद मानता है। प्रेममें देनेका नाम लेना है। देनेवाला नहीं रह जाता समपर्कका भी समर्पण हो जाता है। प्रेमके साम्राज्यमें बस लीला ही चलती रहती है। उसके हृदयमें भगवान् प्रेम समुद्र उड़ेलकर उसमें अवगाहन करते हैं। प्रेमका स्वरूप ही है निजकी कोई इच्छा, वासना नहीं रहती चाहे वह प्रेम संसारमें ही किसीसे हो। प्रियतमका सुख ही जीवन है।

•

शास्त्रकार कहते हैं आहार शुद्धिसे ही अन्तःकरणकी शुद्धि होती है। इसकी शुद्धि समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है। सबसे पहले जरूरी है द्रव्य शुद्धि। भीष्मपितामहका उदाहरण जिस प्रकारकी कमाईका अन्न उस प्रकारकी बुद्धि होती है। आजकल यह चीज बहुत बेढब हो गई। आजकल चोरीसे बचनेवाले लोग खोजनेपर मिलेंगे। कारण राजनीति भी है, खर्चीली आदतें भी हैं सभी हैं, मनसे चोरीसे ग्लानि निकल गई। वास्तवमें हम वही हैं जैसा हमारा अन्तःकरण है।

एक बात और जिसके यहाँ खाने जायें वह किस भावसे खिला रहा है। उसके भावके अनुसार अलग–अलग फल होगा। आफत समझकर खिलायेगा तो पेटमें दर्द होगा। अगर बुरी कामनासे खिलायेगा तो उसके मनमें वह पैदा हो जायेगी। जिस स्थानपर बैठकर खायेंगे उसका असर होगा। जिस चौकीपर बैठकर खायेंगे उसका असर होगा। शराब पीनेवालेसे बात मत करो। रसोई बनानेवालेका भाव खानेपर असर करेगा।

•

यह प्रेम जो है यह अनन्त समुद्र है। इसका तल है तो एकदम शान्त और ऊपर अनन्त तरंगे लहराती रहती हैं। इसलिये प्रेममें उच्छलित आनन्द है। प्रेमीके अन्दर सर्वथा समर्पण रहता है। प्रेमका तार कभी टूटता नहीं। जहाँ चाह है, कुछ बदलापन है वहाँ प्रेम घटेगा, रूकेगा। देनेमें यह जहाँ यह अनुभव होता है कि मैं प्रेमास्पदसे ले रहा हूँ वह प्रेम है। वह तो मानता है मेरे प्रेमास्पद इतने उदार हैं कि जो देकर भी लेना मानते हैं। प्रेमास्पद प्रेमीको प्रेमास्पद बना लेते हैं वह बात अलग है। सारी ममता एक प्रियतममें जाकर केन्द्रित हो जाती है। कोई प्राणी पदार्थ मेरे बोलकर रहे ही नहीं वही स्वार्थ, वही परमार्थ। प्रेम पूजा गोपन होती है। जिस पूजामें और कोई उद्देश्य नहीं वह पवित्र पूजा है।

•

बोलनेका अधिकारी या तो वह है जो साधक आपसमें चर्चा करते हैं या जो अधिकार प्राप्त आचार्य कोटिके महापुरुष हैं। हर कोई बोले और हर कोई लिखे वह तो एक कला रह जाती है। उसका कोई असर भी नहीं पड़ता। बोलनेवाला स्वयं पालन करनेवाला हो और मनमें कोई इच्छा–वासना न हो। सबसे ऊँचा तो वह बोलनेवाला है जिसका जीवन बोलता है। बोलनेसे शक्तिका नाश होता है। जो कुछ वह करता है उससे शक्तिकी वृद्धि होती है। जिसको देखकर जिसके समीप आकर वैसा जीवन बन जाय। एक बंगाली महात्माको मैंने देखा वे जिसको छूकर बोल देते कि अमुक आसन लग जाय वही आसन लग जाता।

साधनकी दृष्टिसे बोलना नहीं चाहिये। इसमें तीन–चार खतरे हैं। एक तो जो सामने सुनते हैं उनको प्रसन्न करनेके काममें लग जाय तो वह

गिर जाता है। दूसरा, बोलनेकी आदत पड़ती जाती है।

सबेरे बात चल रही थी मुख्य और अनन्य साधनकी। सारी इन्द्रियोंके द्वारा भगवान्‌का भजन होना चाहिये। साधना सामूहिक नहीं हुआ करती। स्तर एक-सा नहीं होता एक साथ चलनेवालोंका भी। मनमें जब भगवान् अधिक रहे तब समझना चाहिये कि हम अग्रसर हो रहे हैं। यह बात समझमें आती नहीं कि हम संसारमें ज्यों-के-त्यों लगे रहे और प्रेम प्राप्त हो जायगा, ज्ञान प्राप्त हो जायगा। साधक प्रातः, दोपहर और शामको तीनों बार अपने आपको देखे। प्रातः याद करे कि कल हमसे कहाँ-कहाँ गलती हुई थी। भगवान्‌के बलपर उनको छोड़नेकी प्रतिज्ञा करे और प्रार्थना करे कि आप ऐसा बल दें जिससे आज मेरे द्वारा गलती न हो। शामको फिर देखें कि आज कहाँ गलती हुई। कितनी बार हम भगवान्‌से विरोधी आचरण कर बैठते हैं और इस ओर ध्यान ही नहीं है। वह बड़ा अभागा है जिसको अपने दोष नहीं दीखते। अपनेको सुधारना समाजकी और देशकी सेवा है क्योंकि हम समाजके ही अंग है। जहाँ अपने दोष दीखेंगे तब अभिमान गलेगा और दूसरोंके दोष दीखनेकी प्रवृत्ति कम होगी। बराबर देखे कि भगवान्‌की स्मृति अधिक हो रही है और संसारकी विस्मृति बढ़ रही है कि नहीं। दूसरे सब काम गौण हैं और छूट गये तो हर्ज नहीं है। यदि ममता, आसक्ति भोगोंमें रह गई तो अनेक जन्मोंमें भटकाती रहेगी। कोई कामना अवशेष रह गई तो वह साथ जायगी और दुःखोंके गड्ढेमें गिरायेगी। अपने जीवनको देखना है। साथी मिले तो बड़ा अच्छा नहीं "एकला चलो एकला चलो एकला चलो रे"। कहीं ये नाव हाथसे निकल गयी तो पछताना पड़ेगा। इसलिये बहुत सोचकर अपना लक्ष्य निश्चित करके तेजीसे लग जाय। मन बड़ा धोखा देता है। बड़ी सावधानीसे देखते रहना है। दो चीज सामने आती है---भय और प्रलोभन। इनसे बचना है। अन्तमें तो सब छूटेंगे ही तब मनसे पहले ही छोड़ दे तो क्या हर्ज है। आजकल हम लोग प्रमाद बहुत करते हैं। इसलिये यह बात बार-बार कहनेकी मनमें आती है। भगवान्‌को जो चाहता है वह पाता है। इसलिये यह बड़ी सीधी चीज है। हमलोग तो फालतू बात बहुत करते हैं। दूसरेके गुणोंका भी चिन्तन मत करो, दोष चिन्तनका तो प्रश्न ही नहीं है। विजातीय चीज हट जाती है। जैसे हम होंगे वैसा ही हमें वातावरण मिलेगा; दूसरे अपने आप उसे छोड़ देते हैं। अपनेको भगवान्‌की सेवाकी

परिधिसे बाहर न जानें दें। मेरे पास बहुत पत्र आते हैं उनमेंसे ६८ प्रतिशत दुखोंके आते हैं। गत वर्ष मैं कलकत्ते गया। दो–तीन व्यक्तियोंको छोड़कर सब दुखी मिले। भगवान्‌में लगते ही दुख अशान्ति भाग जायगी। हम यदि दुखी हैं तो यह मान लेना चाहिये कि हम भोग आश्रित हैं और यदि हम सुखी हैं, शान्ति है तो मान लेना चाहिये कि हम भगवान् आश्रित हैं। बड़े–बड़े बुद्धिमान भगवान्‌से भागते रहते हैं। सब हानियोंकी पूर्ति हो सकती है पर मानव जीवन व्यर्थ हो गया तो उसकी पूर्ति नहीं होगी। इसलिये भगवान्‌में लगिये।

•

बात एक ही है उसीको बार–बार कहा जाता है। चीजें सब (भगवान्‌की) हैं और मान ले अपनी तो यह बेईमानी है। यह मान्यता रहनेपर मोहासक्त प्राणीको मरते समय बहुत तकलीफ होती है। मरनेसे पहले ही अपनी ममता हटा ले। असली चीजको मान लेते हैं तो सब भगवान्‌की ही। सब काम यदि पूजाकी भावनासे करोगे तो दिन भर भगवान्‌की पूजा होगी। कर्म, पाप भी बन सकते हैं, पुण्य भी, भगवान्‌की पूजा भी बन सकते हैं और मुक्ति देनेवाले भी कर्ताकी भावनाके अनुसार। सेवाका फल मिलता है सेवा और फिर मिलता है सेवाधिकार। वहाँ सेवाकी कमी नहीं है चाहे जितने सेवक बन जाय। सेवक भगवान्‌को प्रसन्न तो करना चाहता है पर अपनेको नित्य अयोग्य समझता है। वह देखता है केवल कि मेरे स्वामी इतने विशाल हृदयके हैं कि मैं तो कुछ–न–कुछ सेवाके नामपर बिगाड़ता रहता हूँ। उनके कोई अभाव नहीं है पर भक्तकी भावनाके अनुरूप आवश्यकता बन जाते हैं। भगवान् देकर भी अपनेको ऋणी मानते हैं। अपनी चीजको ही लेते हैं और उसका बदला देनेमें अपनेको असमर्थ मानते हैं। भक्त इसलिये नहीं माँगते कि नहीं माँगनेसे अधिक मिलेगा। हमलोग भगवान्‌से माँगेंगे तो क्या माँगेंगे, क्योंकि भगवान् जितना देनेके लिये तैयार हैं उतनी हमारे मनमें कल्पना भी नहीं है। पर जिसे वस्तुएँ चाहिये उसे भी नहीं माँगना चाहिये क्योंकि माँगनेपर कम ही मिलेगा। पर भक्तको तो अपने लिये आवश्यकता ही नहीं रहती। असली बात तो है कहना–सुनना दोनों बन्द कर देना चाहिये और जीवनको भगवान्‌में लगायें। यह अनुभूति होने लगे कि ममता तो मेरी एक भगवान्‌से है और कोई वस्तु तो मेरी है नहीं ? कोई चीज नष्ट

हो जाय तो प्रसन्नता होनी चाहिये कि अपनी तो है नहीं। असली साधकोकी भगवान्‌को भूल जानेसे बड़ी बेचैनी होती है। भगवान्‌में ममता कर लेनेपर वे छोड़ते नहीं। वे अपना अनुभव कराते हैं कि मैं तुम्हारे साथ हूँ। भगवान् उसकी ममतासे मुक्त होना नहीं चाहते। कभी भूलना मत मैं तेरा हूँ। यह बराबर याद दिलाते रहते हैं। जहाँ यह कहा कि मेरा और कोई नहीं कि वे गले पड़ जाते हैं। मेरा बनानेवालेको एक ही चीज करनी पड़ती है कि जगह–जगह जो मेरापन बना हुआ है उसे छोड़ दें। वे छूटेंगे तो सही पहले ही छोड़ दे बस। हम तो कई–कई चीजमें मेरे–मेरेकी छाप लगाना चाहते हैं। ज्यादा करना कुछ नहीं पड़ता जो सच्ची बात है उसे मानकर जान लेना है। जगत्‌के सुख खोजना हमेशा निराशा देनेवाला होगा। "आशा ही परमं दुख नैराश्य परमं सुखं"। ममता भोगोंमें होनेसे तो हम उनसे बँधते हैं और ममता भगवान्‌में होनेसे भगवान् बँधते हैं हम तो स्वतन्त्र बने रहते हैं। इस बंधनमें भगवान् रहना चाहते हैं। भगवान्‌की लीलाका आधार है——भक्तोंका प्रेम।

•

कल बात हुई थी कि भगवान्‌में अनन्य ममता हो जाय और संसारके प्राणी–पदार्थोंसे ममता हट जाय। यह उलटी चीज है——हम समझते हैं संसारकी बहुत–सी चीजें मेरी हैं और इनपर मेरा अधिकार है पर वास्तवमें इन चीजोंने हमपर अधिकार कर रखा है। इसीलिये भगवान्‌का हमारे पर एकाधिकार नहीं हो पाता भगवान्‌का पूर्णाधिकार उसपर होता जो एकामात्र भगवान्‌को ही अपना मानता है। इसीका नाम है अकिंचन। जिसके पास मेरी कहलानेवाली कोई वस्तु है उसपर भगवान्‌का पूर्णाधिकार नहीं होता। जिसने केवल उसको अपना मान लिया है उसका गौरव बढ़ानेके लिये वे उसके पीछे–पीछे चरणधूलि लेनेके लिये चलते हैं। भगवान् उसका ध्यान करते हैं। उसे अपने हृदयमें बसा लेते हैं। उसपर दूसरेका अधिकार होने नहीं देते। दूसरेको ताकने तक नहीं देते। इसमें करना–कराना कुछ नहीं है केवल जिन वस्तुओंमें मेरापन आरोपित कर रखा है——वास्तवमें मेरी हैं नहीं——उनपरसे मेरा मन हटा लें। इसपर विचार करके बार–बार मनसे, भगवान्‌से कहें——मेरे तो केवल तुम हो और

मेरा कोई नहीं। यह साधना है। तुम्हारे मनमें कल्पना नहीं आनी चाहिये कि मेरा क्या होगा ? अपनेको बस उन्हें सौंप दें आप करके तो देखिये। वे तो तैयार खड़े हैं। अपने–आपको देनेके लिये प्रस्तुत हैं। भगवान्‌की प्राप्ति, प्रेमकी प्राप्ति, शरणागतिकी प्राप्ति सबके अधिकारकी चीज है। भगवान्‌के बलपर अपनी सदिच्छाको बढ़ायें, तीव्र करें। विश्वास करके भगवान्‌को कह देना है। इसकी कभी परीक्षा भी होगी। हमारी मानी हुई चीजको वे छीनेंगे। तब मजबूरी नहीं मानें। अपनी चीज आप लेते हैं। यह बड़ी अच्छी बात है, यह मानता रहे। "अनन्याश्चितयन्तो माँ ये जनाः पर्युपासते।" उसको क्या चाहिये वह चिन्ता मैं करूँगा। यदि वह चिन्ता करता है तो अनन्य चिन्तन नहीं होगा। कम–से–कम इसकी नकल करना तो सीखें। अपनी मानी हुई चीज जाती हो और न चाहनेवाली आती हो उस समय मन–बुद्धिकी ओर देखता है कि क्षोभ होता है कि नहीं। हर्ष–शोक दोनों ही क्षोभ हैं। जब अनुकूलता और प्रतिकूलता आती है तब समता रखनी है। ममता तो साथ चलती है। जहाँ जाते हैं वही मेरापन जोड़ लेते हैं। ममता आरोपित होती है—इसको हम निकाल दें। भगवान्‌को एक बार अपना कहते ही वे स्वीकार कर लेते हैं। एक बार पकड़नेके बाद वे छोड़ते नहीं। जहाँ–जहाँ हमारी परीक्षा हो—परीक्षा हमारी जानकारी लिये करते हैं—वे तो जानते ही हैं। परीक्षामें फेल होनेपर भी वे हँस देते हैं; नाराज नहीं होते। हम शरणागत हो गये अब तो ऐसी बात नहीं होनी चाहिये। केवल अपनी योजनाको पूरी करानेवाली शरण न लें। यद्यपि भगवान् उसे भी अच्छा ही मानते हैं। जो ठीक–ठीक भगवान्‌को अपना मान लेते हैं उनके साथ बड़ी मनमानी करते हैं। पांडवोंको देख लीजिये। संसारके हानि–लाभसे भगवान्‌की कृपा नहीं आँकी जाती ये तो पूर्वजन्मके कर्मानुसार मिलते रहते हैं। मनकी न होनेपर हम क्षुब्ध होते हैं—क्योंकि हमें आगे–पीछेकी बातोंका पूरा पता नहीं है। यह करके देखिये न ! फिर तो उसकी मुसकान देख–देखकर प्रसन्नता होती रहेगी। यह करनेकी वस्तु है। कहने–सुननेकी नहीं। यहाँसे असली चीज ले जाय। भगवान् कहते हैं कोई हमको ले लो। कलियुगमें तो बड़े सस्ते मिलते हैं। यदि तीव्र अनन्य इच्छा जागृत हो जाय तो भगवान् अभी मिल जायँ। कल्पोंकी बात नहीं है। इसे जागृत कीजिये।

•

असली चीज तो यही है कि जबतक जीवनका लक्ष्य भौतिक उन्नति रहता है तबतक वह क्लेशसे त्राण नहीं पा सकता। सुखके नामपर दुख आते रहते हैं। बुद्धि उसकी विकृत हो जाती है। अपनी जानमें वह ईमानदार है पर उसकी बुद्धि, उसका मन उसे बुरा काम अच्छा बतलाते रहते हैं। बुराईसे घृणा हट जाती है। वहाँ उसका उत्थान असम्भव है। इसलिये भौतिक जगत्में रहकर भी आध्यात्मिक आधार रखना चाहिये। आध्यात्मिक लक्ष्य रखना चाहिये। चार पुरुषार्थ माने गये हैं। अर्थ, काम, धर्म, मोक्ष। अर्थकी उपेक्षा नहीं है पर लक्ष्य ठीक होना चाहिये। अर्थ और काम धर्म और मोक्षसे रहित हैं तो मनुष्यको गिरानेवाले हैं। जहाँ अर्थका संबंध है वहाँ भी सावधान रहना चाहिये। अर्थका उपार्जन, संचय, व्यय होना चाहिये भगवान्‌को लक्ष्यमें रखते हुए। किसी भी अवस्थामें परमार्थको न भूलें। हमारा माना हुआ स्वार्थ नष्ट होता हो तो हो जाय। धर्मका परित्याग किसी भी कारणसे न करना है। जगत्में निन्दा हो, स्तुति हो, जीवन रहे या जाय पर धर्मसे नहीं डिगना है। उनकी रक्षा भगवान् करते हैं एक बार भले ही परीक्षा हो। उसका फल होता है भगवान्‌की प्रसन्नता। अगर भगवान्‌पर विश्वास है तो परिस्थिति बदलते देरी नहीं लगती। जो सम्पत्ति या विपत्ति प्रारब्धके अनुसार मिलनी है वह मिलेगी ही। ऐसी घटनाएँ बहुत होती हैं, आया हुआ धन चला जाता है और बिना प्रयास, बिना बुलाये आ जाता है। दूसरे जो परमार्थका साधक है उसके लिये दूसरा पथ है ही नहीं। उसके लिये न दूसरा नुकसान है न लाभ। उसको तो परवाह ही नहीं करनी चाहिये। उनको आखिरमें बड़ा सत्फल मिलता है। कर्णने अपना महल तोड़कर चन्दन दान कर दिया। जितने भी कष्ट आते हैं—आते हैं हमें पवित्र करनेके लिये। इसलिये साधक इनका स्वागत करता है। बीमारीको तप मान ले तो तपका फल मिलता है। भगवान्‌ने अपने पास बुलानेके लिये शुद्ध करनेके लिये कष्ट रूपी दूत भेजते हैं।

भगवन्नामके संबंधमें आता है—नाममें पापको नाश करनेकी जितनी शक्ति है पापीमें पाप करनेकी उतनी शक्ति नहीं है। नाम पाप करनेकी छूट नहीं देता। पर नाममें यदि श्रद्धा है तो नाम पाप बन्द करवा देता है। नाममें यह शक्ति है कि वह पापको नष्ट कर देगा। पाप छोड़ सके तो बड़ी अच्छी बात पर यदि नहीं छोड़ सके तो निष्ठापूर्वक नाम लें। नाम अपनी शक्तिसे पापको छुड़ा देगा। पापको छोड़ना चाहते हो तो एक ही दवा है भगवन्नामका

आश्रय। पाप वहाँ टिक नहीं सकता। भगवान्‌की शरणागति और नामका आश्रय दीन ही लेते हैं। इनमें पाप नाश करनेकी अद्‌भुत शक्ति है। नाम नहीं लें बात अलग है। नाम बढ़ेगा तो पाप नहीं रहेगा। ऐसे उदाहरण मेरे पास हैं इसका मतलब यह नहीं कि पापको छोड़ना नहीं चाहिये। जो जीवनमें प्रेम प्राप्त करना चाहता है, भगवान्‌के दर्शन चाहता है वह भौतिक लक्ष्य छोड़ दे। भगवान्‌से मिलनेमें देरी इसीलिये हो रही है कि आतुरता नहीं है। यदि हम आतुर हो जाय तो भगवान् रोना सह नहीं सकते। चाह हाथकी बात नहीं तो भगवान् भी हाथकी बात नहीं। कृपासे तो सब होता है। जो आतुर होकर भगवान्‌पर निर्भर हो जाते हैं वहाँ वे ऋणी हो जाते हैं। प्रेममें दर्शन गौण है, प्रेमास्पदका मन ही प्रधान है। भगवान्‌को पूर्ण समर्पण कर देना ही प्रेम है।

आप भक्ति मार्गमें है तो भक्ति मार्गके अलावा दूसरी बातें आप ही छूट जायगी। जहाँ तक बने भोगोंको स्वरूपसे छोड़ें और उनकी ओर आकर्षित न हो। भगवान्‌को भौतिक वस्तुओंकी आवश्यकता नहीं है। वे तो रीझते हैं प्रेमसे, भावसे। जब वस्तु जाय और रोना न आये तब समझना चाहिये मनसे छूटा है।

•

साधनाभिमान भी नहीं होना चाहिये। अपनेको दीन मानता है वही शरणापन्न होता है। जो भक्ति करना चाहते हैं उनके लिये आवश्यक है कि वे निरभिमान हों। अपने गुणको छिपाये रखे। ख्यातिसे दूर रहे। बुरा करनेवालेका भला करे। जब सबमें भगवान् देखता है तो कैसे किसीका अपमान करे, रूखा बोले। स्वाभाविक विनम्रता होनी चाहिये। सच्चा भक्त साधक अपने काममें तत्पर होता है और दूसरे कामसे बचा रहता है। जब किसीसे मिले तो भगवान्‌की बात करे। अन्त सुधरा तो सुधा हुआ। अन्तकालमें भगवत्स्मरण हो इसका प्रयास करता रहे। फिर प्रियता पैदा हो जायेगी। जिनके थोड़ी प्रियता पैदा हुई वे जानते हैं कि थोड़ी प्रियता पैदा होनेपर तो फिर भूला नहीं जाता। मनुष्य साधनसे बचना चाहता है। भगवान्‌पर निर्भर हो जाओ और फिर उनके प्रत्येक विधानको प्रसन्नतासे स्वीकार करो। काम करनेवाले भी लाख नाम आसानीसे ले सकते हैं। प्रमादमें समय न बितावें तो बहुत समय मिल सकता है। व्यर्थ बातोंमें कितना समय चला

जाता है। एक क्षण भर भी व्यर्थ न खोवे। जो व्यवहार हम अपने लिये चाहते, वही हम दूसरोंसे करें। जैसा मोह घरवालोंसे है वैसा ही मोह भगवान्‌से कर लो। जैसे भोगोंको याद करते हों वैसे ही भगवान्‌को याद कर लो। भय और शोक दो ही तो संसारमें है। भजनमें निरभिमानता हो और तत्परता हो। भजन करनेवाला भगवान्‌को बहुत प्यारा लगता है। भगवान्‌को बुलानेका तरीका ही है उनसे मोह करना। यह कठिन साधन नहीं है। मन नहीं रूकता है तो मत रोको, चंचल मनको भगवान्‌में लगा दो। उधर वृत्ति नहीं है, नहीं तो समय बहुत निकल सकता है। और काम सब पीछे हो सकते हैं। सबसे पहला काम है भगवान्‌में लग जाना। यह सबसे जरूरी है। अपने लगा रहेगा तो देखा–देखी कुछलोग लगेंगे ही। उसके विद्युत कणोंसे लाभ होगा। द्वेषको कहीं भी स्थान न दे यह सबसे अधिक भविष्यको बिगाड़नेवाला है। द्वेष अपने दोषोंके प्रति करो। किसीके तमोगुणको अपनी वाणी, अपने व्यवहारसे न जगावे। अपने भजनमें बाधा न पड़ते हुए दोनोंका झगड़ा सलटा देना भगवान्‌की सेवा है। जो सामग्री अपने पास है वह भावसे भगवान्‌में लगा दें।

•

भगवान्‌तो एक ही है। एक ही भगवान्‌को सर्वत्र देख पाना ही लक्ष्य है। एक वस्तुमें जब बार–बार वृत्तिको लगाया जाता है तो वृत्ति दूसरी वस्तुओंको छोड़ने लगती है। बार–बार चिन्तन करते–करते जब वृत्ति भगवान्‌के रूप, गुण, लीलामें टिकने लगती है तो अन्य विषयोंको छोड़नेकी आदत पड़ जाती है। विलम्ब इसलिये होती है कि वृत्तियोंको समझनेका प्रयत्न हम लोग नहीं करते। चिरकालीन अभ्यासके कारण मन तो विषयोंमें जाता ही है पर इसका मतलब यह नहीं कि इसको रोका नहीं जा सकता। प्रेमके मार्गमें सुविधा यह है कि इसमें सौन्दर्य–माधुर्यमें मन लगाना है। बार–बार मनको लगानेसे पुराने संस्कार दब जाते हैं और नष्ट होने लगते हैं।

मनमें संस्कार निरन्तर बोलते रहते हैं। जो भी हम बोलते हैं उसके पहले वह मनमें आता है। यदि मन मौन हो जाय तो वाणी बोल नहीं सकती। मनकी वर्तमान गति निरन्तर भगवान्‌की ओर चलनेवाली हो तो मन मौन हो जाता है। सारी इन्द्रियाँ बरबस उधर ही जाती हैं जिधर मन जाता है। जबतक साधक मन–बुद्धिको भगवान्‌में लगानेकी चेष्टा नही

करेगा आगे नहीं बढ़ सकेगा। जिनका निश्चय पक्का नहीं उनकी बुद्धि भटकनेवाली होती है। जब 'अहं' भगवान्में लगना चाहेगा तब बुद्धि मन उस ओर लगेंगे। जिसका विवेक मर गया उसकी बुद्धि मर गयी। मनको ऐसा बनानेकी चेष्टा करें कि वह भगवान्को छोड़े नहीं। दूसरी वस्तुकी स्मृति उसकी बुद्धिमें आये नहीं। बार–बार यह करना है कि वृत्तिको अपने भगवान्में लगायें और उसे छोड़ना पसन्द न करें। दबी हुई कामनाओंकी पूर्ति कामनाओंको सप्राण बना देती है। जब कामनाओंकी पूर्ति नहीं होगी तो संस्कार दबते चले जायेंगे। यह तो साधनासे बहुत परेकी बात है कि जरा–जरा–सी बातको लेकर मनमें अनुकूलता–प्रतिकूलताका अनुभव करके राग–द्वेषके वशीभूत हो जाते हैं। समय न खोकर तुरन्त लग जाय। विज्ञापन करना तो साधनाको बेचना है। बहुत जान पहचान, बहुत ख्याति साधकके लिये बड़ी बाधक है।

•

समर्पण तो अहंका ही होता है। पर हो कैसे ? उसका एक क्रम है, कृपासे बिना क्रमके भी ऊपर जा सकता है पर साधारणतया क्रम है। संसारकी ओर जो वृत्तियाँ जा रही हैं उनको रोकना है और भगवान्की ओर लगाना है। पहले अभ्यास फिर वैराग्य। हमारी सभी इन्द्रियाँ बहिर्मुखी हो रही है। प्रत्येक इन्द्रियसे भगवत्सम्बन्धी विषयोंका सेवन हो। भगवान्के भोग लगाये बिना खाना मलवत् त्याज्य है। सबसे पहले बुद्धिको ठीक रखना है। बुद्धि यह निश्चय कर ले कि हमको भगवान्के ध्यानमें जाना है। भगवान्का मार्ग सुगम है। भगवान्को छोड़ देनेसे केवल निराशा और दुःख मिलेगा। भगवान्के मार्गमें चलनेपर सब सहायता करनेवाले मिलते जायेंगे।

•

एक प्रश्न है वृत्ति अन्तर्मुखी कैसे हो ? इसीका उत्तर यह पद था—'उधो निठुर मो सम कोन' भगवान्के लिये होनेवाला साधन, प्रिय साधन होना चाहिये। न होनेकी अपेक्षा जबरदस्तीका साधन भी लाभ देता है। परन्तु जहाँ प्रियता होती है वहाँ वृत्तिको लगाना नहीं पड़ता, स्वाभाविक वृत्ति प्रिय वस्तुमें लगती है। करना है एक ही काम कि भगवान्में अनुराग हो जाय। जहाँ आत्यन्तिक रति हो जाती है वहाँ वृत्ति लगानी नहीं पड़ती।

वृत्ति तत्स्वरूपा हो जाती है। तीन तरहके साधन होते हैं—एक तो बार–बार संसारसे वृत्तिको खींचकर भगवान्‌में लगाना, दूसरे वृत्तिका सुखपूर्वक भगवान्‌में लगना और वापस लौट आना और तीसरा वृत्ति वापिस लौटती नहीं जबरदस्ती खींचकर लगाना पड़े। पहले अभ्यास, रुचि, रति और फिर आत्यन्तिक प्रीति हो जाती है। वहाँ साध्य वस्तु और मन एकाकार हो जाते हैं। प्रेम प्राप्त, लीलामें सम्मिलित भक्त संसारको हमारी तरह नहीं देखते। वह ऐसी भूमिकामें पहुँच जाता है जहाँ विछोह है ही नहीं।

मैं ध्यानका वर्णन कर नहीं सकता, यह एक प्रकारका रोग हो गया है। जब हम भगवान्‌के लिये व्याकुल होते हैं तो भगवान् हमारे लिये अत्यन्त व्याकुल हो जाते हैं। रति तीन प्रकारकी मानी है—साधारणी, समंजसा और समर्था। गोपियोंकी समर्था, रूक्मिणीजी आदिकी समंजसा और उनसे नीची साधारणी। किसी भगवत्प्रेमीका संग मिल जाय लवमात्रके लिये तो संसारकी तो बात ही क्या मुक्तिसे भी तुलना नहीं हो सकती। यह बार–बार याद करनेकी चीज है कि प्रेमीकी भित्ति त्याग है। बिना त्यागके तो प्रेमकी बात ही नहीं करनी चाहिये। सर्व समर्थ भगवान् स्वयं घोषित करते हैं कि मैं भक्तके पराधीन हूँ, भक्त भगवान्‌को वशमें करना नहीं चाहता। वह तो भगवान्‌के चरणोंमें बिना शर्तके अपनेको डाल देता है। उनकी कृपापर विश्वास करके। वह तो त्यागमूर्ति होता है। सर्वोच्च पुरुषार्थ है अपनेको भगवान्‌के चरणोंमें सौंप देना। श्रीराधा कभी भी स्वयंको आराध्या नहीं मानती पर श्रीकृष्ण सुखास्वादन करनेके लिये उसे आराध्या मानते हैं। भगवान् प्रेमीकी उपासना इसलिये करते हैं क्योंकि वे गुणग्राही हैं, कृतज्ञ हैं। एक बार कोई प्रणाम कर ले तो वे सोचने लगते हैं कि मैं इसे क्या दूँ इसने तो प्रणाम कर लिया। दाता हमेशा संकोची होते हैं वे विज्ञापन नहीं करते। छिपाये रखते हैं। भगवान् उदार हैं इसीलिये भक्त पूजक हैं। वे तो चाह होते ही आनेको तैयार हैं। उनकी चीज उनको दे दे तो वे कृतज्ञ हो जाते हैं कि इसने मुझको सबकुछ दे दिया।

•

गीताके अनुसार दो प्रकारके मनुष्य—दैव और असुर। भगवद्‌मुखी और जगत्‌की ओर ही बढ़नेवाले। भोग–कामना मनुष्यके विवेकको हर लेती है। भोगाकांक्षीका भगवान्‌की ओर बढ़ना बड़ा कठिन है। आसुरी भावके

लोगोंकी प्रधानता होनेपर भी दैवभावापन्नका अभाव नहीं होता। आजके युगमें आसुरी भावकी प्रधानता है। लोग बुरा कर्म करनेको अच्छा मानने लगे हैं। इसलिये साधनमें कठिनता है। पर इच्छा होनेपर साधन हर कालमें ही हो सकता है। भगवान्‌में लगे और पाप नहीं छूटे यह हो नहीं सकता। साधकका लक्ष्य होता है भगवान् और इसी लक्ष्यके अनुसार उनके मार्ग तय होते हैं। इस ओर बढ़नेवालोंमें स्वाभाविक ही दैवी सम्पत्ति आयेगी। समताकी बात तो सिद्धावस्थाकी है। हमारे लिये तो भगवद्‌विरोधी चीजोंका बातोंका सर्वथा त्याग जरूरी है। गिरना बड़ा सहज है। इसीलिये सावधान रहें। दूसरी ओर ताके नहीं। किसी साधकको निवृत्ति अच्छी लगती है या किसीको प्रवृत्ति। ऐसा भी कहा जाता है कि भक्त या प्रेमी हँसमुख रहते हैं या दैन्य भावमें ऐसा जरूरी नहीं है। कर्मयोगियोंके चेहरेपर चांचल्य रहता है और ज्ञानयोगी गंभीर रहते हैं। कई बड़े गंभीर होते हैं और विनोदी भी होते हैं जैसे सेठजी थे। सबसे अधिक ध्यान रखनेकी बात यही है कि लक्ष्यसे च्युत न हो। रास्ता तो कोई भी बता देगा। अधिकतर हमलोग भटकू होते हैं। अतः पहले लक्ष्य निश्चित करें। ऐसा कोई काम न करें जो लक्ष्यसे हटा दें। दूसरी कोई चीज़ मिले या न मिले इसकी परवाह न करें। जो सच्चा साधक होता है उसकी सहायता भगवान् करते हैं, ऋषि–मुनि, महापुरुष करते हैं। साधकके सामने दो बाधाएँ आती हैं—प्रलोभन और भय। अमृतसे चाहे कोई मर जाय पर संतके द्वारा किसीका बुरा नहीं हो सकता। बुरा होता है तो वह संत है ही नहीं। एक निष्ठा शीघ्र पूरी करते हैं। दुनियाका भला करना बड़ा अच्छी, सेवा अच्छी पर साधक भगवान्‌की बात सुने, कहे और उसीमें लगा रहे। अधिक किसी बखेड़ेमें न पड़े। सर्वधर्म समन्वय तो पागलपन है। जैसे आसाम और पंजाबसे आनेवालोंको कह दे कि ऋषिकेश एक ही मार्गसे आओ। लक्ष्य एक होता है। साधक ३ बातोंको देखता है—(१) भगवान्‌में रुचि बढ़ रही है या नहीं, यह बहुत जरूरी है। (२) दैवी सम्पत्ति बढ़ रही है या नहीं। (३) आसुरी सम्पत्ति घट रही है या नहीं। भगवान्‌को छोड़कर दूसरी चीज ग्रहण करनेसे इन्कार कर दे। दूसरेके दोषोंको न देखें, न चिन्तन करें, न कहे। अपनेमें दोषोंकी कमी है क्या ? जीवनमें कितने अपराध किये हैं और कर रहे हैं। जब हम अपनी ओर नजर नहीं डालते तब दूसरेकी ओर नजर जाती है। भगवान्‌की कृपापर अटल भरोसा रखें। जानबूझकर अपनेको किसी दोषके अधीन न

होने दें। तीन बातें करनेकी हैं---(१) वाणी व्यर्थ चर्चा न करे, जितना आवश्यक है उतना बोलकर बाकी समय जीभसे नाम–जप करे। (२) मनको जहाँ तब बने भगवान्‌की मधुर–मधुर लीलाओंमें लगाये। बड़ी सुन्दर बात है जहाँ लीलाका स्मरण करते हैं वहाँ भगवान् हैं। ध्यानकी जगह निश्चय हो जाय कि भगवान् ही खेल रहे हैं तो फिर प्रत्यक्ष दीखने लग जाय। (३) जितने भी घरके निर्दोष काम करें भगवान्‌की पूजा समझकर करें। सब चीजें भगवान्‌की, सब घरवाले भगवान्‌के स्वरूप है। साधक अकेले ही मार्गपर चलता रहे। न रीझे न खीझें। कोई उपदेश करें या दोष बतावे तो समझे यह मुझे निर्दोष देखना चाहता है। प्रशंसा करनेवाला समयपर बड़ा खतरनाक बन जाता है। वृन्दावनमें कैसे रहे---सम्मानको विष समझे, अपमानको वस्त्र बना ले। त्यागको अपनावे, भोगोंका त्याग करे या तो भोगाकांक्षा घटेगी या साधना छूटेगी।

•

दो चीजें मैं बार–बार कहता हूँ। साधनाकी बातें ही अधिक कहनी चाहिये। हजारों–हजारों मनुष्योंमें कोई एक सिद्धिके लिये यत्न करता है। सिद्धिका अर्थ है भगवान्‌के तत्वका ज्ञान और इन यत्न करनेवालोंमें भी जो सफल हो जाते हैं ब्रह्मज्ञान जिन्हें हो जाता है उनमें भी मुझे कोई–कोई ही तत्त्वसे जानता है। यही बात १८ वें अध्यायमें आयी है। वह प्राप्ति प्रेमके द्वारा होती है।

मोक्षकी इच्छा होनेपर ६ प्रकारके धन मिलते हैं। साधनावस्थामें---यह मिलना चाहिये कि हमारे जीवनमें आयी है या नहीं, आ रही है या नहीं। इसीका शान्त भक्तिके नामसे वर्णन है। इसके बाद सख्य, मधुर आदि। यह शान्तरस प्रेमकी भूमिकाका है। शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा।

शम---मनका एकाग्र होना। मन आवश्यक वस्तुमें लगता है। सत्संगमें सुननेपर मनमें आती है कि भगवान्‌में मन लगे। न लगे तो कोई हानि तो दीखती नहीं। भक्तकी भाषामें शमका अर्थ है भगवान्‌में मन आसक्त हो जाना। यह साधक अपने आप देखे कि मनमें कौन–सी आसक्ति अधिक काम कर रही है---भोगासक्ति या भगवान्‌की आसक्ति। मन अधिक किस ओर खिंचता है।

इसके बाद दम---यानी इन्द्रियोंका निग्रह। हमारी इन्द्रियाँ क्या

करना चाहती हैं एक ओर हमारी तारीफ सुननेको मिलती है दूसरी ओर भगवान्‌का गुणगान। मन क्या सुनना चाहता है। इसी प्रकार आँख। आँख सुन्दरको खोजती है पर सुन्दर क्या है ? बाहरी सौन्दर्य तो कल्पना है। मरनेपर शरीर सामने वैसा ही दिखता है पर सुन्दरता दिखती है क्या ? असली सौन्दर्य है जो कभी बासी न हो वह भगवान्‌का सौंदर्य। तुलसीदासजीने तो कमाल कर दिया—

बरबस ब्रह्म सुखहिं मन त्यागा।

इसी प्रकार खानेमें स्वाद बुद्धिसे खाते हैं या प्रसाद बुद्धिसे खाते हैं। प्रसाद बुद्धिसे फिर यदि जहर आ जाय तो उसे भी खानेके लिये तैयार रहना चाहिये।

डरे नहीं क्योंकि भगवान् सबको एक–सी दवा नहीं देते हैं। पर एक जगह ऐसा आता है कि जिसपर मैं कृपा करता हूँ पहले उसका धन हर लेता हूँ।

हम पदार्थको बिना खाये जूठा बना देते हैं और खानेपर भी भाव सच्चा हो तो जूठा नहीं होता।

प्रत्येक क्रियामें देखें कि मन भोग चाहता है या भगवत्सेवाकी बुद्धि रहती है। तितिक्षा यानी सहनशीलता। यह तो आजकल है ही नहीं। आज तो मनमें आये सो करो। लोग इतने दुःखी क्यों हैं क्योंकि सहनशक्ति नहीं है।

उपरति—वैराग्यके बाद होती है। भोग तो मानकर परित्याग करना चाहिये।

यह मान लो भगवान् हमारे सुहृद हैं तो चिन्ता और अशान्ति चली जायगी। उनका प्रत्येक विधान हमारे लिये मंगलमय है।

ये साधकमें आनी चाहिये। यह बार–बार मैं इसलिये कहता हूँ कि इन्हें जीवनमें उतारनी है केवल सुननी नहीं है।

•

साधन बहुतसे हैं। भगवन्नाम बहुत सरल साधन है। इसमें बुद्धिकी आवश्यकता नहीं होती। फल ऊँचे–से–ऊँचे साधनका इससे मिल जाता है। कोई नियम नहीं, कोई बन्धन नहीं। किसी अवस्थामें ही नाम लिया जा सकता है। कलियुगमें तो विशेष साधन यही है।

खुद नाम ले और दूसरोंको भी इसीमें लगावे यह बहुत ही बड़ी

सेवा है। नामकी महिमा कोई कह नहीं सकता। 'राम न सकहिं नाम गुण गाई'। नामपर विश्वास करनेसे और न करे तब भी नाममें एक वस्तु है शक्ति है पाप नाश करनेकी। आग जलायेगी चाहे अनजानमें हुए या जानकर। श्रद्धासे या अवहेलनासे एक नाम भी लिया हुआ तार देगा। पाप भी होता हो तो नाम ले। नाममें जितनी पाप नाश करनेकी शक्ति है, उतना पाप पापी कर नहीं सकता। पर नामको पाप सहारा न बनावे। पाप छूटनेके दो ही उपाय हैं—या तो भगवान्‌के शरण हो जाय या नामका आश्रय ले ले। नाम तो साधन सम्पन्न है उन्हें भी लेना चाहिये और जो कोई साधन न कर सके उन्हें भी लेना चाहिये।

नामसे मुझे बहुत लाभ हुआ। कई बार मुझे गिरनेसे बचाया, लोभसे बचाया। अनुभव तो क्या बतायें। जप करके अनुभव कर लें। नामसे सब कामनाओंकी सिद्धि हो सकती है। भगवन्नाम और कृपा—ये दो चीज जैसी परमार्थमें सहायक होती हैं और मेरे हुई हैं वैसी दूसरी नहीं। नाम सब कुछ करनेमें समर्थ है।

•

समय बीता जा रहा है। जीवनके दिन पूरे हो रहे हैं। एक स्थान पर एक व्यक्तिको एक सालके लिये ही राजा बनाया जाता था। फिर उसे जंगलमें छोड़ दिया जाता था। सब रोते हुए जाते। एक व्यक्ति ऐसा राजा बना कि उसको सालभरके बाद जहाँ जाना था वहाँकी सारी व्यवस्था कर दी। सब सामान भेज दिया। हँसते हुए जाने लगा क्योंकि आगेकी व्यवस्था कर रखी थी। इसी तरह हम लोगोंमेंसे जिसने मरनेके बाद जहाँ जाना है वहाँकी व्यवस्था कर ली तो हँसते हुए जायँगे। हम लोगोंको श्वासके आधारपर उम्र मिली हुई है। मानवको बड़ी सावधानीके साथ एक–एक क्षण भगवान्‌में लगाना है। संसारमें जो काम करने हैं वे भी उनके प्रीत्यर्थ ही करने हैं। सम्बन्ध तो सारे टूट जायेंगे। सबसे पहला और सबसे आखिरी काम है—भगवान्‌से जुड़ जाना। हम तो अर्थका अनर्थ भी करते हैं। व्यर्थ और अनर्थका त्याग करके सच्चे आत्माके स्वार्थका काम करे। सबको इस काममें लगाना है। इसे बार–बार याद करना है और जीवनमें उतारना है। हमारा जीवन जुड़ा हुआ है संसारके साथ भोगोंके साथ। जिसके भोगाकांक्षा है उससे पाप हुए बिना रह नहीं सकते। भगवान्‌में आसक्ति होगी

भगवच्चिन्तनसे। भगवान्ने इसपर गीतामें बड़ा जोर दिया, प्रतिज्ञा की कि अनन्य चिन्तन करनेवालेका सारा भार मेरेपर है। हम ऐसा अभ्यास करें जिसके कारणसे भगवान्की स्मृति अधिक–से–अधिक हम कर सकें। "अभ्यास वैराग्याभ्याम् तन् निरोधः" भगवान्की बात कहना, सुनना, चिन्तन करना, अकेलेमें गुण गाना। 'मच्चिताः मद्गतः प्राणा बोधयन्तः परस्परम्' व्यर्थकी चर्चामें पड़े नहीं, सुने नहीं। सबसे अधिक मीठी चीज है पर चर्चा, उसमें भी परनिन्दा। मिठाईसे भी अधिक मीठी। एक महात्माने तो लिखा साधक अन्धा, बहरा, गूंगा, पंगु बन जाय, संसारकी बातोंके लिये। जितना हो सके अपनेको नियंत्रणमें रखे। जब परचर्चा कहने–सुननेकी रुचि नहीं रहेगी तो लोग पासमें आना बन्द कर देंगे कि यह बेकार आदमी है। यह सब कर सकते हैं कि निरन्तर जीभ भगवान्का नाम लेती रहे। फिर जीभको फुरसत नहीं मिलेगी। मैंने कई लोग देखे हैं। बीकानेरका एक रसोइया था कलकत्तेमें मैंने देखा निरन्तर नाम लेता था। थोड़ा–सा आवश्यक बोलकर बाकी सब समय निरन्तर नाम जप। नींदमें सोते समय भी नाम जप होता रहता।

'भरोसो जाहि दूसरो सो करो ....

नाम जपसे फुरसत न मिले, हरीदासजी महाराज ३ लाख नाम कीर्तन करते, जप नहीं। बोल–बोलकर करते।

जो बुद्धिमान अधिक होता है वह अधिक बोलता है इसलिये मूर्ख बनना अच्छा। भोगोंका चिन्तन कम हो उसके लिये इन्द्रियों द्वारा भोगोंका स्पर्श कम होने दें। सब इन्द्रियों द्वारा भगवान्से जुड़ा रहे। गोपियोंकी बात तो बहुत ऊँची पर सब जगह भगवान्को देखनेका अभ्यास करें। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंधका ग्रहण भोग–बुद्धिसे भी हो सकता है और भगवत्सेवाकी दृष्टिसे भी। इसलिये सबका ग्रहण भगवत् सेवाकी दृष्टिसे करें। भगवान्की प्राप्ति बड़ी सरल है, भोगोंकी प्राप्ति बड़ी कठिन। अज्ञानके आवरणमें भ्रम पड़ा हुआ है। सीधी बात—भोजनमें स्वादकी भावना न करके प्रसादकी भावना करें। स्वादकी वृत्ति रहेगी तो जीभकी गुलामी नहीं मिटेगी। इसलिये अस्वाद व्रत धारण करें। जहाँ भोगोंकी बात सुननेको मिले वहाँ मान भी मिलता हो तो न जावे।

जैसा रूपका ध्यान होता है वैसे गंधका, स्पर्श, शब्दका भी हो सकते हैं। मुरली ध्वनिका ध्यान कीजिये, थोड़े दिनोंमें मुरली ध्वनि सुनने लगेगी। इसी तरह और सब चीजोंका ध्यान। बस एक भगवान्से ही मन

जुड़ा रहे। अभ्यास करते–करते रुचि पैदा होगी। रुचिका अर्थ है स्वाद आना। रुचिके बाद होती है रति, आसक्ति या अनुराग। फिर जगत् नहीं रहता केवल प्रेमी और प्रेमास्पद दो ही रहते हैं।

एक होता है प्रेम, एक होता है श्रृंगार। श्रृंगार भगवान्‌के भावके लिये वर्जित नहीं है। श्रृंगारका अनुकरण हम नहीं कर सकते। हमें अनुकरण करना है प्रेमका। प्रेमका अर्थ है स्वसुखकी वासनाका त्याग। स्वसुखकी वासना प्रेमका रूप बनकर ठग लेती है।

अभ्यास करना है पाँचों इन्द्रियोंको भगवान्‌से जोड़ना है। मनसे तो अभ्यास करना है ही।

जीभसे बोलना न बोलना हाथकी बात है। जीभको वशमें रखें। मन दो काम नहीं कर सकता।

मौत पूछकर नहीं आयेगी। इसलिये मौका हाथसे न निकले उससे पहले ही मनको भगवान्‌में फँसा दें। बाकी सब चीजें तो होती ही रहेंगी। केवल सुननेसे, कहनेसे नहीं होगा। लग जाइये लगनेसे होगा। बस भगवान्‌का स्मरण करिये।

•

प्रेमके साधन क्षेत्रमें एक साधनाका स्तर है जिसका नाम है पूर्वराग। भगवान् व्यासदेवने इतने पुराणोंकी रचना की क्यों ? जगत्‌के जीव भगवान्‌के गुण सब–सुनकर उधर आकृष्ट होकर प्रेम प्राप्त कर सकें। महाभारतकी रचनाके बाद भी कुछ शेष रह गया। उनके अशान्ति तो क्या थी पर जगत्‌के मंगलके लिये अशान्ति थी। नारदजीने बताया—भगवान्‌का गुण–गान शेष रह गया। भागवत रचनाका संकेत किया। जीव मायाके मिथ्या बंधनमें बध रहा है। हमेशा निराश होता है। सब अशान्त रहते हैं। कारण अलग–अलग दिखते हैं। जिस समुद्रमें केवल विष ही भरा है वहाँसे अमृतकी प्राप्ति कैसे होगी।

भगवान्‌के गुण सुनकर भगवान्‌की तरफ मन आकृष्ट होता है। पूर्वरागके १२ या १६ प्रकार माने हैं। गुण सुनकर, सौन्दर्य माधुर्यका वर्णन सुनकर, स्वभाव सुनकर आदि। कोई स्वामी सेवक नहीं बनता पर भगवान् सेवकका सेवक बननेमें रसकी अनुभूति करते हैं। जितना सौन्दर्यका आजतक विस्तार हुआ वह उनके सौन्दर्यके एक बूँदके बराबर नहीं है। यहाँके

सौन्दर्यके प्रति पहले आकर्षण होता है फिर स्वाभाविकता आती है, फिर उदासीनता आ जायेगी। पर वह नित्य नया दिखता रहता है। उस सौन्दर्यको बार–बार याद करना चाहिये भले ही देखा न हो। देखनेवालोंने जहाँ वर्णन किया है वह पढ़िये बार–बार मनमें याद करिये। भगवान् तो उस समय भी वहाँ हैं। याद करके जहाँ मन उस आकार बना कि भगवान् वहाँ प्रकट हो जायेंगे। जिसकी ममता भगवान्से हुई—ममता बिना हुए ही करिये—भगवान्की निरन्तर स्मृति होगी। भगवान् आपके हैं यह आपका अधिकार है। वे ममताके बन्धनको छोड़कर भाग नहीं सकते। प्रेम कभी यह नहीं कहता कि मैं यहाँ हूँ। यह तो अभिमान बोलता है। प्रेम मार्गमें अभिमान बहुत बड़ी बाधा है। भगवान्को अभिमान नहीं सुहाता। हमलोग चिन्तन करते नहीं। होता नहीं सो बात नहीं है। भोग जितना दर्जा तो भगवान्को दो। दो काम करें—एक तो जब कोई वस्तु हमारी नहीं है तो भगवान्में असली ममताका सम्बन्ध रखो। वे हमारे हैं इसका बार–बार चिन्तन करो। चाहोगे तो उनका सौन्दर्य ध्यानमें आ जायगा। इसमें निराश होनेकी जरूरत नहीं है। उनको पुकारते रहो।

समय बीता जा रहा है। आयुके दिन बीत रहे हैं। जैसे थोड़ी–सी पूँजी समाप्त हुई जा रही हो और आगेका कोई ध्यान न हो। जैसे भी हो अपने जीवनको भगवान्की ओर मोड़ देना अनिवार्य आवश्यक है। जिससे जितना हो सके लगानेका प्रयत्न करना चाहिये असली मनसे। जैसे भूखा आदमी रोटीके लिये सच्ची चेष्टा करता है दिखानेके लिये नहीं। प्रशंसा प्राप्त करनेके लिये नहीं। दुनियाँकी बातें करनी पड़ती हैं, करनी हैं, छोड़नेको कहना व्यर्थ है पर उनपर नियन्त्रण होना चाहिये। जितना जरूरी हो उतना प्रयत्न संसारके लिये करें शेष सारा प्रयास भगवान्के लिये हो, घरका सारा काम भी भगवान्की सेवाके लिये हो। जीवनको भगवान्के समर्पित कर दें तो सारे काम उनके सेवाके लिये होंगे। पहले तो भगवान्की आवश्यकता जाग जानी चाहिये। आवश्यकता जाग जानेपर किसीके उपदेशकी आवश्यकता नहीं होती। जबतक आवश्यकता न जगे तब तक भगवान्की महत्ता जगत्की नश्वरताका विचार करना आवश्यक है। एक भ्रम हो गया कि इस बार तो सुख नहीं मिला पर अबकी बार जरूर मिलेगा। फिर नहीं मिला तब भी वही बात मृगतृष्णाकी तरह। आशाको पूरी करनेके लिये आश्रय लेते हैं काम, क्रोधका, क्रोध आता है अपने मनकी न होनेपर और

उसका बीज है काम। कैसे भी मिले भोग मिलने चाहिये। भोगोंका तो इतना ही उपयोग है कि कम–से–कम आवश्यकता जीवन–यापनके लिये रखकर काम चला ले। भोगोंमें सुखकी आशा सदा ही दुःखदायिनी रहेगी। जिससे आशा नहीं है उससे दुःख नहीं होता। विवेक हमारा ठीक काम करता नहीं। विवेकसे वैराग्य होता ही है, यह निश्चित है। आलस्य फैलानेकी बात मैं नहीं कहता। कर्मठ बनो, चलो पर चलो सही रास्तेपर। हमें क्या भोग प्राप्त होंगे अच्छे या बुरे यह पहलेसे निश्चित हो चुका है। इसमें प्रायः परिवर्तन नहीं होता। अपनी जानमें पापकर्म न करे पर फल जो होना है वही होगा। पैसा आने–जानेकी, यश–अपयशकी यही बात है। प्रारब्धके भोग तीन प्रकारसे होते हैं अनिच्छा, स्वेच्छा और परेच्छासे। जो किसीका बुरा करनेमें प्रवृत्त होता है, सोचता है तो उससे तो पाप बन गया पर उसका बुरा होना होगा तो होगा अन्यथा नहीं। अपने द्वारा बुरा हुआ याद रखे और भला हुआ हो तो भूल जाय। दूसरेका किया बुरा भूल जाय भला याद रखें। हमारे द्वारा भला हुआ हो तो उसके प्रारब्धसे हुआ है, हमारा जो अभिमान बढ़ेगा याद रखनेसे या बदला पानेकी चाह होगी। किसीने द्वेषपूर्वक भी किया हों तो हमारा बुरा तो तभी होगा जब हमारा प्रारब्धसे होना होगा। अपना बैरी कोई है तो न जीता हुआ मन ही है।

सत्संग और भजन मलको हटाते हैं

भगवान्‌की तरफ मुँह मोड़नेके बाद विलम्ब नहीं है। इसमें प्रयास नहीं करना पड़ता केवल इच्छा करनी पड़ती है। इसमें बहुत बड़ी बुद्धिकी विवेककी, आवश्यकता नहीं है। इसमें सबका अधिकार है। अब तक उसने चाहे कुछ भी किया हो केवल पाप ही किये हो। **सम्मुख होहि जीव मोहि जब ही जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं।** उसकी सँभालका सारा जिम्मा भगवान् ले लेते हैं। कोई उसकी ओर आँख उठाकर देख नहीं सकता। ऐसे भक्त केवल अपने कुलको ही नहीं तारते जो सम्पर्कमें आता है वही पवित्र हो जाता है।

ठीक तो मनको करना है ऊपरकी परिस्थिति इसमें बिल्कुल बाधक नहीं है।

साधनका विज्ञापन नहीं करना है। भगवान् अन्तर्यामी हैं इसलिये वे सब जानते हैं।

महात्माओंका उपदेश जितना सुन लिया जाय, जीवनमें उतार लिया जाय वही उत्तम है। भगवान्‌की स्मृति ही सम्पत्ति है यह साधनके लिये जरूरी बात है। भगवान्‌को याद क्यों नहीं करते, मन क्यों नहीं लगता आदि। सबका एक ही उत्तर है—भगवान्‌में सम्पत्ति बुद्धि नहीं है। गोपीका स्वरूप क्या है ? तदर्पिताखिलाचारिता .... अपने पास अपना कुछ रहा ही नहीं। सब कुछ प्रियतम भगवान्‌का हो गया। उनकी मधुर स्मृति ही एकमात्र जीवन रह गया। उनकी विस्मृति ही सबसे बड़ी विपत्ति। प्रेमकी मधुर स्मृतिके साथ किसीकी तुलना नहीं हो सकती। जैसे मछलीको जलसे निकालकर धूपमें रख दिया जाय तो वह छटपटाती है और मर जाती है। जहाँ यह स्मृति है वहाँ अन्य सबकी विस्मृति है। व्यवहार दो तरहका होता रहता है। पर उनका स्वरूप क्या है ? सारी वस्तुएँ उनकी हो गयी हैं। उनकी वस्तु उनकी सेवामें लगानेकी स्मृति होती है। उस स्मृतिका भी एकमात्र हेतु है प्रियतम ही।

सूखा ज्ञानमें अहंका विलय हो जाता है। यहाँ अहं सेवक होकर रहता है। दूसरी भाषामें मन उसका ही नहीं। समर्पित मन व उनका मनपर नियन्त्रण। ये भी बहुत ऊँची चीजें हैं पर इन दोनोंमें मनका अस्तित्व है। जहाँ मनमें भगवान् बसे हैं यह बहुत ऊँची अवस्था है। अहंका पूर्ण समर्पण होनेपर भगवान्‌का मन वहाँ आ जाता है। यह तामन्मनस्काका अर्थ है। वहाँ राधा भावका उदय होता है। प्रियतमका मन ही वहाँ क्रियाशील रहता है। उसके बहुत–बहुत पहलेकी चीज है जहाँ भगवान्‌की स्मृति ही एकमात्र सम्पत्ति होती है। दूसरेकी स्मृति वहाँ बड़ी–से–बड़ी विपत्तिका रूप धारण कर लेती है। यह ऊँचे दर्जेके भगवद्‌विश्वासीकी बात है। इसको लक्ष्य बनाकर चलना है। जब स्मृतिमें सम्पत्ति बुद्धि हो जाती है तो वह निरन्तर बढ़ती ही रहती है। भजन ठीक होता है या नहीं इसकी एक कसौटी है। भगवान्‌की स्मृतिमें किसी हेतुसे मन ऊबने लगे, उकताहट आने लगे तो समझना चाहिये कि रस अभीतक आया नहीं। रुचि होनेपर भजन निरन्तर बढ़ता है। जब संसारके कारणोंको लेकर भजन रुकता है तो वह भजन बहुत ऊँची श्रेणीका है ही नहीं। वैसे भजन ऊँचा तो है ही। पर अनुकूलता–प्रतिकूलताको लेकर क्षोभ, भजनमें बाधा देता है तो वह प्रबल है। मतलब कि हम जगत्‌में अनुकूलता चाहते हैं और यह चाह भजनकी अनन्य चाहमें बाधक है। यह एक करनेकी चीज है। एक ही काम जीवनमें

करना है—–अन्य व्यवहार तो करना है बस—–वह काम है भगवान्‌में लगना और उनको पाना। दूसरे काम बाधक हैं तो सर्वथा त्याज्य हैं। इसी बातपर प्रधानतया सोचना है। पता नहीं अगले ही क्षण मर जाय तो उसके लिये तैयार होना है। वह तैयारी यही है कि फिरसे इस दुःखालयमें नहीं आना पड़े। उसका उपाय है भगवान्‌की निरन्तर स्मृति हो और जगत्‌से सर्वथा उपरति। यह जीवनका सबसे पहला और सबसे आखिरी काम है। इसको सोचकर अपना कर्तव्य निश्चय कर लेना है। दूसरोंको नहीं देखना है। इसमें बड़ी जल्दी करनी है। "अन्तहि तोहि तजेंगे पामर तू न तजे अबहिं ते।" मन–बुद्धि भगवान्‌को सौंप दी जाय। बार–बार अपनी दुरावस्था टीस मारने लगे। बार–बार आवृत्ति करे इसकी। जगत्‌के दो ही रूप हैं या तो भगवान्–ही–भगवान् भरे हैं अथवा दुःख–ही–दुःख है। हमलोग दुःखको सुख मान रहे हैं। इसके दो ही उपाय हैं भगवान्‌का स्मरण करें प्रार्थनायुक्त और जगत्‌में दुःख देखें।

प्रभुका प्रत्येक विधान मंगलमय होता है ऐसा विश्वास करना चाहिये। इस विश्वासका पता चलता है प्रतिकूल परिस्थितिमें। पर विश्वास हो नहीं तो दुःखी रहता है। जीवके लिये जो भी विधान भगवान् करते हैं वह चाहे जितना भयानक हो, है तो मंगलमय ही। भगवान्‌के विधानके बिना कुछ हो नहीं सकता। जिनको विश्वास होता है वे कृपाका स्पर्श प्राप्त करते हैं, बाहरी दर्द होनेपर भी मनमें प्रसन्न होते हैं। फल रूपसे जो कुछ भी हमें प्राप्त हों वह निश्चित विश्वास रखें कि हमारे मंगलके लिये है। फल चाहे अभी सामने आ जाय चाहे बादमें अथवा मृत्युके बाद। मंगल विधान मान लेनेपर प्रतिकूलता नष्ट हो जाती है। भगवान् कहते हैं मुझे सुहृद मान लो।

भगवान् उधारकी वस्तु नहीं हैं जो आज चाहता है उसे आज मिलते हैं जो कल चाहता है उसे कल। क्योंकि वे कर्मके फल नहीं हैं। इतना मिलनेकी तीव्र इच्छा, अपना दैन्य और उनकी कृपापर विश्वास यह होते ही भगवान् मिल जाते हैं। एक नामसे भगवान् मिल सकते हैं।

•

प्रेम है स्वसुखवांछाशून्य। जहाँ प्रेम होता है वहाँ अपने सुखकी तलाश नहीं होती। खोज होती है प्रेमास्पदकी रुचि किसमें हैं। गोपी प्रेममें त्यागकी पराकाष्ठा है। भगवान्‌को पवित्र प्रेमके रसास्वादनकी इच्छा रहती

है। उनको रस मिले कहाँसे ? उनको रस प्रेमी ही देते हैं। प्रेमास्पदके प्रति अपना सर्व समर्पण ही सर्वोच्च भाव है। समर्पणके ३ भेद हैं——

(१) जो भी करो, करके अर्पण कर दो।

(२) उसीके लिये करना, अपने लिये करना ही नहीं।

(३) भगवान्का मन ही उसके अन्दर बैठकर कर्म कराता है। उसका मन भगवान्की विहारस्थली बन जाता है।

लौकिक कामना–वासनाका त्याग तो अन्तःकरणकी शुद्धिके साधनमें ही हो जाता है। जहाँ भोग है वहाँ प्रेम नहीं। जहाँ पूर्ण त्याग है वहाँ प्रेम है और जहाँ उस त्यागका भी त्याग है वह राधा भाव है। उनके द्वारा हमें कितना सुख मिला इसका हिसाब रखनेवाला कभी प्रेमी हो नहीं सकता।

दूसरा प्रश्न सबमें भगवान्के दर्शन कैसे हों ? मैं यहाँ बैठे हुओंको प्रणाम नहीं करता, मैं प्रणाम करता हूँ भगवान्को। सब रूपोंमें एक मात्र भगवान् प्रकट हैं। सबमें भगवान् देखनेका साधन तो यह है कि बार–बार जो भी सामने आवे उसे भगवान् देखनेकी चेष्टा करे, विचारसे। गोपियोंकी आँख होनेपर तो श्रीकृष्ण ही दीखेंगे पर यह तो ऊँची बात। पर जैसे नौकर सामने आया उसे भी मनसे भगवान् देखें, मनसे प्रणाम कर लिया। इससे नाटकके पात्रके अनुरूप काम करवा लें। इससे द्वेष मनमें नहीं आयेगा। जहाँ भगवद्भाव होगा, वहाँ आदर होगा। अपने कर्मके द्वारा सब जगह भगवान्की पूजा होगी। सब जगह भगवान् देखनेकी आदत डालनी चाहिये। भगवान् तो सब जगह हैं ही। सत्यको देखनेका प्रयास करना है। इसमें राग–द्वेषका नाश हो जायगा। फिर तो दिनभर भगवान् मिलेंगे। व्यवहारमें भेद रहेगा पर दिनभर मनसे भगवान् समझकर सबको प्रणाम करें।

एक मिनट कीर्तन करके उठना चाहिये नहीं तो कीर्तनका तिरस्कार होता है। ताली नहीं बजानी चाहिये यह तो पाश्चात्य प्रथा है।

आज दिनमें कई सज्जनोंने कई बातें सुझाई कहनेके लिये। साथमें भगवत्प्रेमका विषय चल रहा है सो भी चलना चाहिये।

साधनामें सबसे पहले साध्यका निश्चय करना है कि हमें भगवान्को पाना है। उसके बाद मार्गका निर्णय करें। सबकी रुचि एक–सी नहीं होती। पर साधनामें कुछ चीजें ऐसी हैं जो सबको चाहिये ही। इन्हींका नाम योगदर्शनके अनुसार है यम नियम। गीतामें नाम है दैवी सम्पत्ति। प्रेमकी साधनावाले तो इसका नाम रखा वैधी भक्ति–साधना–भक्ति। मन, वाणी,

शरीरसे बुरे कर्मोका त्याग अच्छे कर्मोका ग्रहण। कसौटी है आत्मनः प्रतिकूलानि, इस कसौटीसे कर्तव्यका निर्णय करे। मन, इन्द्रियां, शरीरका यदि संयम नहीं कर सकें तो इनका विषय बदल दे। वृत्तियोंको रोकनेकी आवश्यकता नहीं इनको श्यामसुन्दरके रस समुद्रमें बहने दो। कामनाको रोको मत, स्मरणकी कामना करो और इस कामनाकी पूर्ति न हो तो दुःखी हो जाओ, क्षोभ होने दो। क्रोध करो और अपने दुर्गुणोंपर। लोभकी चीज तो एक ही है जो मिलनेपर भी मिलनेकी इच्छा बनी रहे और वह है भगवान्‌के दर्शन। भजनसे कभी सन्तोष करे ही नहीं। जगत्‌की स्मृति हटानेसे नहीं हटती ऐसी स्मृति अन्दर बैठ जाय कि यह स्मृति अन्दर घुस भी नहीं सके। कल बात हुई थी पहले अभ्यास करो—चीज मीठी है स्मरणका अभ्यास करो फिर मिठास आने लगेगा। विकारोंके नाशके दो तरीके हैं एक वैराग्यके द्वारा दूसरा भगवान्‌के समर्पणके द्वारा। भगवान् तो पतित–से–पतितको पावन बनाने तैयार खड़े हैं। "अपि चेत् सुदुराचारो"।

साधक जीवनके सारे कार्य भगवान्‌में जोड़ दे। यह जुड़ेगा तब जब लक्ष्य भगवान् होंगे। ये बातें कहने–सुननेकी नहीं हैं आप भगवद्‌भाव साथ ले जायँ। यहाँ जो आये हैं यह भगवान्‌की कृपा तो है ही। यहाँ भगवान् सस्तेमें मिलते हैं इसलिये साथ लेकर जाइये।

•

प्रेमके मार्गपर चलना हो तो शुरूसे तीनों बातोंपर ध्यान रखें—(१) कृपापर पूर्ण विश्वासकर इसे पल–पलपर अनुभव करे। कृपा होगी नहीं, अभी है। (२) उनके अनुकूल आचरणोंकी पूरी चेष्टा और (३) उनके प्रतिकूल आचरणोंका सर्वथा त्याग।

चिन्तन चार प्रकारके होते हैं। महिमा अनन्य चिन्तनकी है। उपासनाका मतलब है जिसका मनमें स्मरण होता रहे। मन्दिरमें बैठा पूजा जप आदि करना बड़ा अच्छा और वैसे करते–करते ही मनसे होगा। पर अपने मनको इस बातसे तौलता रहे कि हम किसकी उपासना कर रहे हैं। हम तो कर्तव्य भगवान्‌का निर्णय करते रहते हैं उन्होंने ऐसा क्यों नहीं किया, उन्हें ऐसा करना चाहिये था आदि। यही बड़ी भूल है। भगवान् इससे नाराज तो नहीं होते क्योंकि वे नाराज हो सकते ही नहीं पर ये भाव कृपाके प्रकाशको रोके रहते हैं। हमने इतने दिन चिन्तन किया उन्होंने इसके

बदलेमें क्या दिया ? इतना चिन्तन हो गया और क्या चाहिये यह कोई छोटी सम्पत्ति है। सच्चे साधक तो चिन्तनका फल और चिन्तन एवं सेवाका फल और सेवा ही चाहते हैं। हमें तो सिर्फ यही देखते रहना है कि अनन्य चिन्तन हो रहा है या नहीं। हमारे तो विश्वासकी ही कमी है। एक माली भी बीज बो देनेपर बार–बार खोदकर नहीं देखता कि अंकुर निकला या नहीं। बार–बार खोदनेसे बीज ही नष्ट हो जायगा। जब एक जड़ वस्तुपर इतना विश्वास किया जा सकता है तो जिसको हमने सौंपा है उसपर इतना विश्वास नहीं कर सकते। बस अपना काम करते रहो और सब चिन्ता छोड़ दो।

विश्वास भी करते हैं तो अधूरा। ऐसा कहनेवाले तो कई मिल गये कि मरनेके बाद की हमें चिन्ता नहीं है पर अभी तो अशान्ति है ही। यह भी विश्वासकी कमीके ही कारण है। नहीं तो जिसपर मरनेके बाद निश्चिन्त हो उसपर अभी निश्चिन्त और निःशोक नहीं हो सकते। क्यों अपनेको दुःखी और चिन्तित अनुभव करते हो।

मरनेमें भी भाव बदल लो तो दुःख मिट जाय। मरना तो यह शरीर बदलकर नित्य सेवामें सम्मिलित होना है। यह धारणा दृढ़ हो जाय तो दुःख नहीं होगा।

।। श्रीहरिः।।

रस–सिद्ध संत श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी जीवन झाँकी

भगवान्‌के विशेष कार्य हेतु राजस्थानी अग्रवाल जातिके पोद्दार कुलमें सं० १९४९ वि० (१७ सितम्बर सन् १८९२ ई०) शनिवारको शिलाँग (आसाम) में जन्म हुआ। श्रीहनुमानजीकी कृपासे जन्म होनेसे 'हनुमानप्रसाद' नाम रखा गया। आरम्भसे ही देशसेवा–समाजसेवाकी प्रवृत्ति प्रबल थी। स्वदेशी आन्दोलनमें शुद्ध खादी प्रयोगका व्रत ले लिया। श्रीअरविन्द घोष आदिसे निकट सम्पर्क हुआ। क्रान्तिकारी गतिविधियोंमें सक्रिय भाग लेनेके कारण सरकारने जेल भेज दिया; पीछे शिमलापाल (बंगाल) में २१ मासके लिये नजरबंद कर दिया। वहाँ एकान्तजीवनमें आध्यात्मिकताका उन्मेष हुआ। सरकार द्वारा बंगालसे निष्कासित किये जानेपर सन् १९१८ में बम्बई गये। वहाँ लोकमान्य तिलक, लाला लाजपतराय, महात्मा गाँधी, मालवीयजी, संगीताचार्य श्रीविष्णु दिगम्बरजी आदिसे घनिष्ठ सम्पर्क हुआ। समाज सेवा तथा साधना दोनों ही महत्त्वपूर्ण रही। भगवन्नामनिष्ठाके फलस्वरूप भगवान् श्रीरामके दर्शन हुए। साकारोपासनाके साथ–साथ निराकार साधनाके क्षेत्रमें भी महदुपलब्धि हुई—–स्वप्नकी सृष्टिके समान जगत्‌की प्रतीति एवं निरन्तर आनन्दमय बोधस्वरूप परमात्मामें प्रत्यक्षवत् स्थिति। संतप्रवर श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकासे प्राप्त सत्संग–लाभ आन्तरिक आत्मीयता एवं गुरूभावमें परिणत हो गया। बम्बईमें सत्संग–भवनकी स्थापना हुई और वहींसे सुप्रसिद्ध हिन्दी मासिक पत्रिका 'कल्याण' का सन् १९२६ ई० में प्रकाशन आरम्भ हुआ। पारसी प्रेतसे साक्षात् वार्तालाप होनेपर उसके उद्धारके लिये गयामें श्राद्ध करवाया। फिर अनेक दिव्य लोकोंसे सम्पर्क स्थापित हुआ। गंगातटपर एकान्तवासकी आकांक्षा जग उठी। अतः 'कल्याण'के सम्पादन–संचालनकी दृष्टिसे सन् १९२७ ई० में 'कल्याण'का बम्बईसे गीताप्रेस, गोरखपुरमें स्थानान्तरण हो गया, परंतु ईश्वरीय योजनाके अनुसार सम्पादकीय दायित्व एवं गीताप्रेससे संचालनसे मुक्त नहीं हो सके। भगवद्दर्शनकी प्रबलोत्कण्ठा होनेसे सन् १९२७ ई० में भगवान् श्रीविष्णुके साक्षात् दर्शन हुए। देवर्षि नारद एवं महर्षि अंगिरासे साक्षात्कार हुआ एवं उनसे तत्त्वोपदेशकी प्राप्ति हुई। दिव्य संतमण्डलमें अन्तर्निवेश हो गया। शक्ति–शिवका भी साक्षात्कार हुआ। 'कल्याण' पत्रिकाका एवं उसके विश्वकोष जैसे विशेषांकोंका ४५ वर्षों तक सम्पादन किया। श्रीराधा–माधव सम्बन्धी

विपुल साहित्यके साथ–साथ 'श्रीराधा–माधव चिन्तन' एवं 'पद–रत्नाकर' गद्य–पद्यात्मक प्रभूत मौलिक साहित्यकी सृष्टि उनके द्वारा हुई। उनके जीवनपर्यन्त गीताप्रेससे प्रकाशित सम्पूर्ण साहित्य एवं देवी–देवताओंके चित्रोंका निर्देशन–संशोधन–सम्पादन प्रमुख रूपसे उन्हींके द्वारा सम्पन्न हुआ। त्रस्त–रूग्ण–विकलांग मानवके सेवामें सदा रत रहे। सब धर्मोंको आदर देते हुए वे हिन्दू आदर्शोंके अनन्य पुजारी थे। श्रीरामजन्मभूमि अयोध्या एवं श्रीकृष्णजन्मभूमि मथुराके उद्धारमें प्रमुख सहयोग दिया। 'रायबहादुर', 'सर' एवं 'भारत–रत्न' जैसी राजकीय उपाधियोंके प्रस्तावोंको अस्वीकार दिया। प्रयागके 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' ने उनकी अमूल्य हिन्दी–सेवाके उपलक्ष्यमें सम्मानार्थ 'साहित्य वाचस्पति' की सर्वोच्च उपाधि प्रदान की। परंतु उन्होंने अपने नामके आगे कभी इस उपाधिका उपयोग नहीं किया।

साधनाके प्रमुख अंग थे—नाम–जप, ध्यान, सर्वत्र भगवद्दर्शन और भगवत्कृपापर विश्वास। भगवान् विष्णुके दर्शनके बाद गीतावक्ता भगवान् श्रीकृष्ण, फिर वृन्दावन बिहारी श्रीमुरलीधरके लीला–राज्यमें प्रवेश होनेपर महाभाव–रसराजके रस–सिन्धुमें निमग्न रहने लगे। गंभीर निमग्नाके फलस्वरूप भीतर–बाहर सर्व ही श्रीराधाकृष्णमय हो गया। भाव–समाधिकी सघनतासे कई–कई घण्टे बाह्यकी सर्वथा विस्मृति रहती। भागवती स्थितिमें स्थिति होनेसे उनके स्थूल कलेवरमें श्रीराधाकृष्ण युगल नित्य अवस्थित रहकर उनकी सम्पूर्ण चेष्टाओंका नियन्त्रण–संचालन करने लगे।

सचमुच हमारी भावी पीढ़ियोंको यह विश्वास करनेमें कठिनता होगी कि बींसवीं सदीके अस्थाहीन युगमें जो कार्य कई संस्थाएँ मिलकर नहीं कर सकती वह कल्पनातीत कार्य एक भाईजीसे कैसे संभव हुआ। दूसरे वेद व्यासकी भाँति शास्त्रों एवं धर्म–प्रचारका कार्य हमारे पूर्ववर्ती आचार्योंसे भी बढ़कर कहा जा सकता है साथ ही आचार–विचारको सुनियंत्रित करनेका कार्य जिसकी तुलना मनु–याज्ञवल्क्यादि स्मृतिकारोंसे की जा सकती है। भक्तिकाव्यकी सरस रचनाका जो कार्य सूरदास, तुलसीदास जैसे भक्त कवियों द्वारा हुआ एवं साथ ही लीला–सिन्धुमें निरन्तर निमग्न रहनेके, आदर्शकी जो प्रतिष्ठा श्रीचैतन्य महाप्रभु जैसे संतों द्वारा हुई—इन सबका अद्‌भुत एकीकरण श्रीभाईजीके विशाल व्यक्तित्वमें स्पष्ट प्रकट है। महाप्रस्थान—सं० २०२७ वि० चैत्र कृष्ण १०, सोमवार (२२ मार्च १९७१)

हमारे प्रकाशन

१. श्रीभाईजी—एक अलौकिक विभूति		६०.००
(पू० श्रीभाईजी एवं श्रीसेठजीकी संक्षिप्त जीवनी) संयोजन श्रीश्यामसुन्दरजी दुजारी		
२. भाईजी चरितामृत	(पू० भाईजीके शब्दोंमें उनके जीवन प्रसंग)	
(संयोजन श्रीश्यामसुन्दजी दुजारी)		
३. सरस पत्र	भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	३०.००
४. व्रजभावकी उपासना	भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	२५.००
५. परमार्थकी पगडंडियाँ	भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	३०.००
६. सत्संगवाटिकाके बिखरे सुमन	भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	३०.००
७. वेणुगीत	भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	३५.००
८. समाज किस ओर जा रहा है	भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	३०.००
६. प्रभुको आत्मसमर्पण	भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	३०.००
१०. भगवत्कृपा	भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	५.००
११. श्रीराधाष्टमी जन्म–व्रत महोत्सव	भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	५.००
१२. शान्तिकी सरिता	भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	
१३. रासपंञ्चाध्यायी	भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	
१४.आस्तिकताकी आधार–शिलाएँ	श्रीराधा बाबा	३५.००

पुस्तकें एवं पू० श्रीभाईजीके प्रवचनोंके एवं पदोंके कैसेट प्राप्ति स्थान

गोरखपुर : गीतावाटिका प्रकाशन
पो० गीतावाटिका, पिन०–२७३००६
फोन–०५५१–३१२४४२

कलकत्ता : श्रीसुशीलकुमारजी मुँधड़ा
८, इण्डिया एक्सचेंज प्लेस (८ वाँ तल्ला)

वाराणसी : श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार स्मृति ट्रस्ट
बी. २७/८२, दुर्गाकुण्ड रोड

गाजियाबाद : श्रीशिवकुमारजी दुजारी
के. आई० १५५, कविनगर

मुम्बई : भारतीय ग्रामोद्योग वस्त्र भण्डार
सिंघानिया वाडी, १८७ दादीसेठ अग्यारी लेन,
फोन० –२०१३८२१

नोट : कैसेटकी विस्तृत सूची उपरोक्त पतोंपर प्राप्त की जा सकती है।